

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

*****[ग्रन्थांक ४३]*****

पूर्वाचार्यविरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति - संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)



SINGHI JAIN SERIES

*****[NUMBER 43]*****

JAYAPĀYADA NIMITTAŚĀSTRA

(A WORK OF THE SCIENCE OF PROGNOSTICS MAKING PROPHEESIES
ON THE BASIS OF THE LETTERS OF SPEECH)

क क क का वि वा सी
 साधुचरित-भेदिकर्यं श्रीमद् बालचन्द्रजी सिंघी पुण्यम्बुतिनिमित्त
 प्रतिष्ठापित एवं प्रकथित

सिंघी जैन ग्रन्थ माला

[वैदिक साहित्यिक, दार्शनिक, छांदोग्यिक, वैदिकान्तिक, वैदिक, व्याकरण-दृष्ट्या विविधविधसंगुणित
 साहित्य, संस्कृत, ब्राह्मण, श्रौतसंहिता, राजसूय आदि पञ्चांगानिपर सार्वभौमिक इत्येतत्
 साहित्य तथा अन्य संश्लेषजनक साहित्य सम्बन्धि सर्वत्र जैन ग्रन्थपरि]

प्रतिष्ठाप्य

श्रीमद् बालचन्द्रजी सिंघीवर्यभ्य

स्व. दानशील-साहित्यरसिक संस्कृतिप्रिय

श्रीमद् बहादुर सिंहजी सिंघी



प्रथम सम्पादक तथा संचालक

आचार्य जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ

भोजपुरी सापेक्षर

राजस्थान ओरियण्टल रिसेच इन्स्टीट्यूट, बोधपुर (राजस्थान)

विद्वत् भोजपुरी सापेक्षर

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

भोजपुरी शैल कर्त्तव्य ओरियण्टल सोसायटी, कर्नाटी; साधुचरित ओरियण्टल रिसेच इन्स्टीट्यूट, हनु-
 (रविम); गुजरात साहित्यसंस्था, चतुर्वर्णपुर (गुजरात); विवेकानन्द वैदिक
 शोध संस्थान, संमिथपुर (बिहार)

संस्थापक

श्री राजेन्द्र सिंह सिंघी तथा श्री नरेन्द्र सिंह सिंघी

प्रकाशक-

अधिष्ठाता, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

पूर्वाचार्य विरचित प्रश्नव्याकरणाख्य

जयपायड निमित्तशास्त्र

(प्रथमावृत्ति - संस्कृतव्याख्योपेत मूल प्राकृत ग्रन्थ)

□

जेसलमेरुदुर्गस्य - प्राचीनजैनग्रन्थभाण्डागारोपलब्ध
ताडपत्रीयपुस्तकानुसार

संपादनकर्ता

आचार्य, जिन विजय मुनि

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

ऑनररी मेंबर - जर्मन ओरिएण्टल सोसाइटी, बर्मेनी; भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट
पूना, (इक्षिण); गुगराव साहित्यसभा, अहमदाबाद (गुजरात); विद्येश्वरानन्द वैदिक
शोध प्रतिष्ठान, होंसियारपुर (पंजाब)

...

ऑनररी डायरेक्टर

राजस्थान ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर (राजस्थान)

...

निवृत्त ऑनररी डायरेक्टर - भारतीय विद्या भवन, बम्बई



प्रकाशनकर्ता

अधिष्ठाता, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ

भारतीय विद्या भवन, बम्बई

विक्रमाब्द २०१४]

प्रथमावृत्ति-५०० प्रति

[वि.सं. १९५८]

ग्रन्थांक ४३]

सर्वाधिकार सुरक्षित

[मूल्य रू० ६/६०]

[जयपापड निमित्तशाख]

[सिंधी जैन ग्रन्थ माला]

पुत्रो ह्यसौमित्रो देवकायाः सुतः कर्मण्युत्तमः
 लोकोत्थयति तस्यैवैतद्दिवा न संसारीः श्रेयः
 गन्तव्योऽथ दिवा प्रकृत्याऽथिनायनाथ
 पादं निसृज्यते नोपदिशति किं कर्मसुखे
 मणोभिरसौमित्रोऽसौ सुखापास्तमिति कि

विद्वान्नाट्यरूपं किंचिदमज्जुत्तमपापपुत्रः
 श्रायन्तुं नृपसूतेतकलमीदृश्यान्तकथारुस्य
 दृशां प्रमाणं चारुत्तमपापपुत्रो नृपसूतस्य
 वीर्यवर्तिनिदिशयोः तं विद्वान्नाट्यरुपास्यते
 किंचिदमज्जुत्तमपापपुत्रो नृपसूतस्य

सिंहात्तुल्यसिद्धकृत्तयथाकडानोयागोविन्दो
 इतमेस्यैवसुखयुक्तो जन्तुनिमित्तसासुसुखो
 नृपसूतोमिदुष्टवतो नमो कर्मकृत्तुशोभितदश
 नमोयुयोरोपानितकं एतस्यलोनिज्याणाम्बुयुद्धो
 लिङ्गितुत्तुद्युतिसिद्धकृत्तुसासुसुखकर्मसिद्धिः

एतत्तुल्यकलमीदृश्यान्तकथारुस्य
 कान्तमज्जुत्तमपापपुत्रो नृपसूतस्य
 श्रायन्तुं नृपसूतेतकलमीदृश्यान्तकथारुस्य
 दृशां प्रमाणं चारुत्तमपापपुत्रो नृपसूतस्य
 वीर्यवर्तिनिदिशयोः तं विद्वान्नाट्यरुपास्यते
 किंचिदमज्जुत्तमपापपुत्रो नृपसूतस्य

जेसलमेरमें प्रातः प्रतिके भाच पत्र

सिपी जैन ग्रन्थ माला]

[अणुपायड निमित्तशास्त्र]

| | |
|---|---|
| <p>अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण</p> | <p>अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण</p> |
| <p>अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण</p> | <p>अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण अणुपायड निमित्तशास्त्रेण</p> |

विद्यमानेषु मातुः कथायाः मतिषु कथितम् पत्र

किञ्चित् प्रास्ताविक

4

प्रस्तुत जयपायड[†] नामक निमित्त शास्त्रकी ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति हमको जेसलमेरके एक ज्ञान भण्डारमें प्राप्त हुई थी। इससे पूर्व, हमारे दृष्टिगोचर यह ग्रन्थ नहीं हुआ था, इसलिये हमने इसकी प्रतिलिपि करवा ली, और फिर इसका विषयावलोकन करनेसे हमें यह एक महत्त्वकी रचना ज्ञात हुई, अतः इसको इस सिंघी ज नू ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित करनेका हमने संकल्प किया।

जेसलमेरमें प्राप्त यह ताडपत्रीय पुस्तिका, जैसा कि इसके अन्तमें लिखा हुआ है—विक्रम संवत् १३३६ में लिखी गई थी अर्थात् आजसे कोई ६८० वर्ष पूर्वकी लिखी हुई है। इस पुस्तिकाके कुल मिलाकर २२७ ताडपत्र हैं। अक्षर सुवार्ध्य हैं, पर कहीं कहीं स्याही घिस जानेसे अक्षर अदृश्यसे हो गये हैं। लिपिकर्ता विषय और भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण प्रतिकों पाठ बहुत ही अशुद्ध और भ्रष्टस्वरूप-वाला लिखा गया है।

ग्रन्थको प्रेसमें छपानेके लिये देना निश्चिन हुआ तत्र इसका कोई दूसरा प्रत्यन्तर कहीं से मिल सके तो पाठसंशोधनमें विशेष सहायक हो सके इस विचारसे, पुना, पाटण, अहमदाबाद, बडोदा आदिके प्रसिद्ध जैन भण्डारोंमें इसकी खोज की गई, पर उसमें सफलता नहीं मिली। पीछेसे भावनगरके भण्डारमें एक कागज पर लिखी प्रति प्राप्त हुई, पर वह जेसलमेरवाली प्रतिसे भी अधिक भ्रष्ट पाठवाली निकली, अतः संशोधनमें उसका कोई खास उपयोग नहीं हुआ। तब हमने केवल उक्त भ्रष्ट पाठवाली प्रतिके उपरसे ही यथामति पाठ संशोधन आदि करके प्रस्तुत आवृत्तिकों, इस स्वरूप में प्रकट कर देनेका प्रयत्न किया है।

ग्रन्थके अवलोकन मात्रसे ही विशेषज्ञ विद्वानको ज्ञात हो जायगा कि इसका पाठसंशोधन करनेमें हमको कितना श्रम उठाना पडा है। पुस्तिकाकी प्रायः प्रत्येक पक्ति भ्रष्ट पाठवाली प्रतीत हो रही है। न मालूम मूलप्रति लेखककी अज्ञानताके कारण ऐसा पाठभ्रष्ट हुआ है अथवा किसी भ्रमवश ऐसा अशुद्ध पाठ लिखा गया है। ग्रन्थगत विषय बहुत ही गोपनीय माना जाता रहा है। कोई विरल ही व्यक्ति इसका अध्ययन-मनन कर सके—ऐसी रहस्यमयी भावना, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके विषयमें प्राचीन कालसे चली आ रही है, अतः इसकी दुर्लभता और अप्रसिद्धि स्वाभाविक है।

ग्रन्थका विषय निमित्तशास्त्रान्तर्गत प्रश्नविद्या विषयक है। अतः इस रचनाका अन्य नाम प्रश्न-व्याकरण ऐसा दिया गया है। प्रश्नचूडामणी, प्रश्नप्रकाश आदि नामके इस विषयके कई प्राचीन ग्रन्थोंका उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थोंमें मिलते हैं। इसी आवृत्तिके अन्तमें ज्ञानदीपक नामक एक सक्षित चूडामणिसार शास्त्र भी मुद्रित किया गया है जो इसी विषयकी एक सक्षित रचना है। यह रचना भी हमें जेसलमेरके एक भण्डारमें फुटकर पत्रोंमें मिली है।

६

† जेसलमेरमें जो पुस्तिका प्राप्त हुई उसकी पट्टिकापर 'जयपाहुड' ऐसा नाम लिखा हुआ था इसलिये हमने ग्रन्थके मुद्रणमें मुख्य शिरोलेख इसी नामसे अंकित कर दिया, पर पीछेसे ऊहापोह करने पर 'जयपाहुड' नहीं परंतु 'जयपायड' ऐसा नाम सद्युचित मालूम दिया। अतः हमने मुख्यपृष्ठ पर इसी नामका उपयोग करना उचित समझा है। मूल ग्रन्थकी तीसरी गायामें इसी शब्दका प्रयोग किया गया है।

हमारे पूर्वज म्प्रीवियोंने अज्ञात तत्त्वों और मासोंको जाननेके लिये एवं कई प्रकारकी सूक्ष्म विज्ञान-बोका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ज्ञाना प्रकरके चिन्तन, मनन और निरीक्षात्मक लिये हैं। इनके अज्ञानता जो अज्ञान्य तत्त्वों प्राप्त हुए उनको वे संश्लेषण एवं सूक्ष्मरूपमें प्रकट करके मन्त्र या प्रकरणके रूपमें प्रकट करते रहे जिससे मन्त्री अज्ञानियोंके उत्तम ज्ञान प्राप्त होता रहे। प्रस्तुत मन्त्र एक ऐसे ही अज्ञान तत्त्व और मन्त्रोक्त ज्ञान प्राप्त करने करनेके लिये उपलब्ध साधक है। यह शास्त्र जिस मन्त्री या विद्वान्को बन्धी तरह बचता हो, वह इसके मातृकाके, मिश्री मी प्रकटकीके काम-व्ययाम, शुभ-अशुभ, सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदि की बातोंके विषयमें बहुत लिखित और तत्पर्यन्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है और प्रकटकीको बता सकता है।

प्राचीन मातृका विभिन्न, जो ह्यन्वय मातृकीय विभिन्नोकी माता या मूल प्रकृति मन्त्री जाती है, अन्वय वर्णमाला या अक्षरमालाके मुख्य रूपसे ४५ अक्षर हैं। इनमें

अ आ ई उ ऋ ए ऐ ओ औ ङ ञ

ये १२ अक्षर हैं, और—

क ख ग घ ङ — क वर्ग
 च छ ज झ ञ — च वर्ग
 ट ठ ड ढ ङ — ट वर्ग
 त थ द ध न — त वर्ग
 प फ ब म य — प वर्ग
 र ल व — र वर्ग
 श ष स ह — श वर्ग

इस प्रकार ७ वर्गोंमें विभक्त ३३ अक्षर हैं। १२ अक्षरोंका १ वर्ग है जिसकी संज्ञा 'अ' है। बाकीके ३३ अक्षरोंकी 'च ख ट ठ ड प य श' इस प्रकार अक्षर ७ संज्ञाएं हैं।

इस प्रकार संस्कृत वर्णमाला ८ वर्गोंमें विभक्त की गई है। प्रस्तुत शास्त्रमें इन वर्णगत अक्षरोंके अनेक प्रकारके मंत्र-उपमेय बनाये गये हैं। ये अक्षर अनेकानेक गुण और षट्कोके बाधक और सुधक हैं। प्रकृत अक्षर मिश्रीय प्रकारके अक्षर और अक्षर का सूत्रक है और फिर वह जब मिश्री सुते अक्षरके संयोगमें अक्षर है तब, वह उस संयोगके कारण और भी अनेक प्रकारका अक्षर और अक्षर अक्षरमेयका बन जाता है। अक्षरोंके अक्षर और अक्षरका निर्माण करनेके लिये अक्षरमित्र, अक्षरमित्र, दक्ष आदि संज्ञाएं बन्नी गई हैं। इन अक्षरोंमें कुछ अक्षर बीजसंज्ञक हैं, कुछ अक्षरसंज्ञक हैं और कुछ मूलसंज्ञक हैं। इस प्रकार कई तरहसे अक्षरोंके अक्षर, गुण और षट्कोके प्रयोगसे इस शास्त्रमें विद्यमान गये हैं। ५५ एत बहुत विद्यमान और अक्षर उपलब्ध साधक है इसमें कोई संशय नहीं है।

प्राचीन वैदिक मन्त्रोंमें इस उपलब्ध अक्षरमालाके शास्त्रीय विषयमें उल्लेख बहुत जगह विद्यमान है। इसमें ज्ञान होता है कि प्राचीन ऋषिके अक्षर आचार्य इस विषयमें बहुत ही विविध ज्ञान रखते थे। इस विषयका निरूपण करनेके लिये-लिये अनेक मन्त्र एवं प्रकरण वैदिकशास्त्रों द्वारा बनावे गये प्रकृत होने हैं जो प्रायः अब विद्यमान ही रहे हैं।

इस विषयके ज्ञाताओं और शास्त्रकारोंका अभिमत है कि जिन अज्ञात और गूढ़ तत्त्वोंका परिज्ञान, सर्वज्ञ केवलज्ञानी अपने आध्यात्मिक अन्तरज्ञान द्वारा अनुभूत कर सकता है वैसा ही परिज्ञान, इस शास्त्रका विशिष्ट ज्ञाता, इस शास्त्र द्वारा अनुभूत कर सकता है और इस लिये इस विषयके शास्त्रको 'अर्हचूडामणि,' 'केवली चूडामणि,' 'केवली परिज्ञान' आदि नामोंसे भी व्यवहृत किया गया है।

इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली बहुत कुछ साहित्यिक सामग्री हमारे पास सप्रहीन हो गई है, पर उसका विस्तृत रूपसे आलेखन करनेका यथेष्ट अवकाश हमें प्राप्त नहीं हो रहा है। अतः अभी तो हमने इस ग्रन्थको, इस प्रकार, केवल मूल रूपमें ही प्रकट कर देनेका यत्न किया है, जिससे इस विषयके जिज्ञासुओंको इस शास्त्रका कुछ आभास प्राप्त हो सके।

इसकी पुनरावृत्ति, विशिष्ट रूपसे करनेका हमारा मनोरथ है, जिसके साथ इस प्रकारकी कुछ अन्य रचनाएँ भी सकलित की जायेंगी और इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली अनेक तथ्यपूर्ण बातें भी आलेखित की जायेंगी।

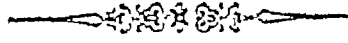
विजयादशमी, सवत् २०१४
(२१, अक्टूबर, १९५८)
अनेकान्तविहार, अहमदाबाद

— सुनिजिन विजय

जयपायक निमित्तशास्त्रगत विषयानुक्रम

| क्रम | विषय | पृ. | क्रम | विषय | पृ. |
|------|-------------------------------|-------|------|-----------------------------|-------|
| १ | सामासिक शिक्षाप्रकरण | १-७ | २२ | वर्गमंडिका | ५०-५१ |
| २ | संज्ञ-विकृत प्रकरण | ८ | २३ | मध्यवर्गविकृत | ५१-५२ |
| ३ | उचरापर प्रकरण | ८-१२ | २४ | व्यंजन वियोग | ५२-५७ |
| ४ | अभिवात प्रकरण | १२-१६ | २५ | स्वर्गसंयोगप्रकरण | ५७-५८ |
| ५ | बीजसमास प्रकरण | १६-१८ | २६ | परवर्गसंयोगप्रकरण | ५८ |
| ६ | मुजुप्प प्रकरण | १८-२० | २७ | सिद्धाकलोक्तिप्रकरण | ५८-५९ |
| ७ | पक्षि प्रकरण | २०-२१ | २८ | क्षुभेद यशस्वित्ति | ५९-६३ |
| ८ | वातुप्पद प्रकरण | २१-२२ | २९ | गुणाकार प्रकरण | ६३-६५ |
| ९ | बीजविन्ता | २२ | ३० | उचरापरविवाह प्रकरण | ६५ |
| १० | वातुप्रकृति | २२-२५ | ३१ | स्वर्ग प्रकरण | ६५-६७ |
| ११ | वातुपोनि | २५-२७ | ३२ | व्यंजन-कार प्रकरण | ६७-६८ |
| १२ | सूत्रमेव | २७-२९ | ३३ | समासप्रकृति | ६८-६९ |
| १३ | सूत्रपोनि | २९ | ३४ | उचरापरसंज्ञप्रकरण | ६९-७३ |
| १४ | द्विविधाया प्रकरण | ३०-३१ | ३५ | वर्गापरसंयोगोत्पत्तय | ७३-८० |
| १५ | वर्ग-रस-वर्ग-स्पर्श प्रकरण | ३१-३३ | ३६ | सर्वोम्न | ८०-८१ |
| १६ | त्रिपदादि द्रव्य दिग् प्रकरण | ३३-३४ | ३७ | संज्ञ-विकृत प्रकरण | ८१-८२ |
| १७ | नटिकाप्रक | ३४-३८ | ३८ | वर्गसंबंधी अज्ञविभास प्रकरण | ८२-८४ |
| १८ | विन्तामेव प्रकरण | ३८-३९ | ३९ | स्वर्गव्ययन | ८४ |
| १९ | उच्चवर्गविकृतिकर संख्याप्रपाठ | ३९-४४ | ४० | शिविवाहप्रकृत | ८४-८५ |
| २० | कल प्रकरण | ४४-४६ | ४१ | व्यापि-सूत्रविकृत प्रकरण | ८५-८६ |
| २१ | स्वर्गमंडिका प्रकरण | ४६-५० | ४२ | व्यापि-सूत्रविकृत प्रकरण | ८७-९६ |

प्रश्नव्याकरणारख्यं जयपाहुडनाम निमित्तशास्त्रम् ।



॥ ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥

*

करकमलकलितमौक्तिकफलमिव कालत्रयस्य विज्ञानम् ।
यो वेत्ति लीलयैव हि, तं सर्वज्ञं जिनं नमत ॥ १ ॥

प्रत्यकृत(ता?) प्रश्नाव्यस्य जयपाहुडस्य निमित्तशास्त्रस्यारम्भे अशेषदुरितप्रक्षयार्थं चाभि-
प्रेतार्थप्रसिद्धयर्थमिष्टदेवतानमस्कार(र०)कर्त्तव्यः । तदर्थमाह —

सिद्धमख्यमणिंदिमक्कि(क)यमणवन(ज्ज)मञ्चुयं वीरं ।

णमिऊण सयलतिहुयणमत्थयचूडामणी(णिं) सिरसा ॥ १ ॥

वीर शिरसा प्रणम्येति । किंविदिष्टमन्तमुच्यते — सिद्धं । तत्र शुभाशुभकर्मविमुक्तः ॥
[प० १, पा० २] सिद्धः । नास्य रूप विद्यत इत्यरूपः । रूप मु(शु)कृ-कृष्णारात्मकम् । श्रोत्रादी-
नीन्द्रियाणि शब्दाद्यर्थविषये न प्रवर्त्तन्ते इत्यनीन्द्रियम् । न कृ(कि)यत इत्यकृतकः, द्रव्यरूपेण
नित्यत्वात् । नावद्यमनवद्यः । अवद्य पापम्, अपापं अगर्ह इत्यर्थः । न स्वभावात् प्रच्यवति
इत्युच्य(त्यच्यु)त । अशेषकर्मविदारणाद् वीरः । वीरो देवताविशेषः । तं शिरसा प्रणम्येति
सम्बन्धोऽयम् । अथवा य न(?) एव सिद्धः अत एवासावरूपी अनिन्द्रिय अकृतक अनवद्य ॥
अच्युतः वीरः इति वभूय(व)स एव सकलवृ(त्रि)भुवनमस्तकचूडामणि[०] लोकप्रे [प० २, पा० १]
निवासित्वात् । अतस्त देवताविशेषं महावीराख्य सि(शि)रसा प्रणम्य प्रश्नव्याकरणं शास्त्रं
व्याख्यामीति धाक्यशेषाहभ्यमिति । आराहुपकारित्वात् ॥ १ ॥

सुयदेवयं पणमिमो, जस्स पसाएण गहियव(घ)रियस्स ।

सुत्तस्स अत्यपरिमियसपा(मा?)दरो तीरण काउं ॥ २ ॥

श्रुत सास्त्र(शास्त्रं) ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । तदेतत् श्रुतं देवता श्रुतदेवता । तां श्रुतदेवतां प्रणता-
(मा)मि । यस्याः प्रसादेन । प्रसाव इत्यनुग्रहोऽभिमुखपरितोष इत्यु[च्य]ते । गृहीतस्य धृ(धृ)तस्य
च तस्य सूत्रस्यार्थः । सूत्रार्थः प्रास्यावरः शक्यते कर्तुमिति ॥ २ ॥

मइमाह[प० २, पा० ०]पुप्पायं, भुवणव्भंतरपवंत(वत्त)वावारं ।

अइसयपुण्णं णाणं, पण्हं जयपायडं वोच्छं ॥ ३ ॥

मति(तिः) बुद्धि(द्धिः) प्रज्ञेति पर्यायाः । बुद्धिप्रभावोत्पत्तिभूतमित्यर्थः । कस्तस्या बुद्धे(द्धेः)
प्रभावः । नष्ट-मुष्टिचिन्ता-लाभालाभ-सुर-दुःख-जीवित-मरणाभिव्यञ्जकत्वम् । किञ्च भुवनाभ्य-
न्तरप्रवृत्तन्यापारम् । व्यापारस्तद्गतपदार्थोपलम्भनम् । अतिस(श)यपूर्णं ज्ञानम् । यदन्यसा(शा)-

आहुपद्यम् सोऽसिस(क)या । अतिर्य(क)यामं निमित्तहासात्(ह)पद्यम्प इत्यसिस(क)या ।
 अतीतानाग[व]वर्तमाननिमित्ताद्यैकप्रकारं मष्ट-मुष्टिभिस्तादिकस्यापसिस(क)वपूर्वं प्रमहाय
 अर्ग[१ १ व १]प्रकटने हेतुमूढ अगत्यकटय व्याख्यामीति ॥ ३ ॥

अ क च ट त प य श पुषे, धमो लक्ष्मैञ्च पण्हमादीर् ।

उत्तरधरा य तेसि, जाणे धग्गस्सरसराण ॥ ४ ॥

इह साखे द्विवा वर्गक्रमः कच(कः) । अहवर्गी क्रम(मा) पञ्चवर्गी क्रमश्चेति । कृतं पवत् ।
 तथा साखे अथशररर्षनात् । उत्तरधराहवर्गक्रमः - 'अ क च ट त प य श' इत्येतेऽहो प्रथमा वर्णा
 वर्गाणां सूचका इति । प्रका(मा)पामासौ प्रका(म)मानुकावा वा यात्रिकेऽनेकार्थोपसङ्ग
 त्वात् । वर्गाणां अक्षराणां स्वरणां च उत्तरत्वमपरत्वं च वक्ष्यमाण अथगच्छ ॥ ४ ॥

अेषियमित्ते सङ्घो, [१ १ व १] धेतुं पण्हस्सरे परमुहाओ ।

ते सबे ठावेरं, तेसि पढमस्सरपाहुदि ॥ ५ ॥

वाक्यमात्रात् प्रमाक्षरात् परमुध्यु(ह) महीदु अकः मैमित्ति । ते सर्वे आपचित्त्याः
 प्रथमाक्षरात् प्रवृत्ति रोपामक्षराणाम् ॥ ५ ॥

सजुत्तमसजुत्त, अणमिह्यं अमिह्य च जाणित्ता ।

आलिगियामिधूमिय, वङ्गाणि य लक्खए तेसि ॥ ६ ॥

तेषां वाक्याक्षराणां पूर्वआपिठानां संयुक्तमसंयुक्तं इति । एव संयोगोऽनेकवाऽभिवाक्येति ।
 सजाव-अवर्ग-परवर्ग इति । अमाचओ वचोऽसंयुक्तः । तथाभिवाचो वक्ष्यमाणकत्वादि-
 मित्ता [१ ४ व १] । आलिङ्गित-अभिधूमित-व्यपक्यथा । अथमिह्यः अमिचत्ता(व)रुद्धि-
 मे(मि)ति ॥ ६ ॥

मोत्तो(तुं) पढमालाव, गेमिच्छी अप्पणो य पढिपण्हं ।

सेसेसु जीवमावीपरिचित्त वागरे मइमं ॥ ७ ॥

पृच्छकञ्च सम्भाव्यादिकं प्रथमाक्षरं हुक्त्वा प्रका(म)साक्षिण् मतिप्रका(मा)वात्सीवा
 (वं) च हुक्त्वा अन्वयान्त् प्रका(म) एहीत्वा वाङ्-मूर्त्त-धीनां प्रथमवाक्यमेव प्रपुञ्ज धीव-मूढ
 वात्[स]रणा(वा) वराणां वेऽपिचसंत्वात्सेवी(वी)ववाहुमूढोमि निरेरवम् ॥ ७ ॥

पढमो य सत्तमसरो, क च ट त प य शा य पढमओ वग्गो ।

विदि-अट्टमस्सरसहिया, ए छ ठ था १ ४ २ १ १ र पा वितीओ य ॥८॥

वंच-वर्गक्रम इरती कच्छे - अक्षरात् प्रथमा स्वर । एकात् सप्तमा स्वर । 'क च ट त प
 य श' सवितो प्रथमो वर्गः । आकारो द्वितीयः स्वरः । एकारोऽष्टमः स्वरः । 'ए छ ठ थ क र प'
 सवितो द्वितीयो वर्गः ॥ ८ ॥

तइओ णवमेण समं, गजइ व व ल सा य तइयोओ धमो ।

अठ-दसमसरेण समं, धसठ ध म य हा य अठत्यो ठ ॥ ९ ॥

इकाररहतीयः । उ(ओ)कार(रो) नवमः । 'गजडदधलस' सद्वितौ वृतीयो वर्गः ।

ईकारश्चतुर्थः । औकार(रो) दशमः । 'घशडधभवष्टा(ष्ट)' समेतौ चतुर्थो वर्गः ॥ ९ ॥

अणुणासिया य [५०५, पा० १] पंच वि, पंचम-छट्टा सरा य घोघवा ।

दो चरिमसरा य तहा, पण्हक्खरमूलवत्थुस्त ॥ १० ॥

'रुञ्जण न माः' पञ्च अनुनासिकाः । 'उ ऊ' पद्ममपठौ । 'अं अः' द्वौ चरिमस(स्व)रौ ।

भवतः । एते पंच वर्गाः प्रभ्राक्षरमूलवस्तुनि ॥ १० ॥ वर्गैरचना समाप्ता ॥

इदानीं जीव-धातु-मूलाक्षराणां विभागोपदर्शनार्थमाह—

आइह्हा तिणिण सरा, सत्तम णवमो य वारसे जीवं ।

पंचम-छट्ट-सरस्त[य], धाउं सेसेसु तिसि(सु) मूलं ॥ ११ ॥

आद्याः स्वरास्त्रय 'अ आ इ' । सप्तम 'ए'कारः । नवम 'ओ'कारः । 'अः' द्वादशमः । एते षट्^{११}
स्वराः जीवस्वराः वि[५०५, पा० २]क्षिपाः । 'उ'कार[] पचमः । 'ऊ'कारः षष्ठः । 'अ' एकादशमः ।
त्रय एते धातुस्वराः । चतुर्थ 'ई'कारः । दशम 'औ'कारः । 'ऐ'कारोऽष्टमः । एते त्रयोमूलस्वराः ॥ ११ ॥

क च ट चउक्के जीयं, अट्टम-पढमंतिमे यकारे य ।

त प [य ?] चउक्के धाउं, व से य मूलं तु सेसेसु ॥ १२ ॥

'क र ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ' इत्येते पूर्वनिर्दिष्टा[ः] प्रथमवर्गस्य । अष्टमः स(श)का-^{१२}
[५०६, पा० १]रः, अस्यान्तो हकारः, यकारश्च । जीवाक्षरा एते । 'त थ द ध, प फ व भ'
इत्येतेऽष्टौ । वकारः सकारश्चेत्येते धात्वक्षराः । ङ ञ ण न मा[ः] तथा रकारः, लकारः, पकारश्च
इत्येते मूलाक्षरा(राः) ॥ १२ ॥

जीवाद्यक्षराणामुपसंमहार्थं स्वराणां गाथामाह—

जीवक्खरेक्कवीसा, तेरह धाउक्खरा मुणेयवा ।

एयारस मूलगया, पणयाला हौंति सबे वि ॥ १३ ॥ [५०६, पा० २]

पूर्वनिर्दिष्टाः स्वराः षट् 'अ आ इ ए उ अः, क र ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, य श हा'
एते जीवाक्षराः एकविंशतिः २१ । पूर्वोक्ता धातुस्वरास्त्रय 'उ ऊ अ' दश चान्ये 'त थ द ध प फ व भ
व सा' एते धात्वक्षरास्त्रयोदश १३ । 'ई ऐ औ, ङ ञ ण न मा, र ल पा' एते मूलाक्षराः एकादश
११ । जीव-धातु-मूलसमेताः पंचचत्वारिंश(स)दक्षराणि भवन्ति ॥ १३ ॥ [५०७, पा० १]

पढमस(स्स)रसंजुत्ता, सबे लहुअक्खरा य अणभिहया ।

इच्छंति जीवचिंता मि(म)त्तासु विवज्जिया जाव ॥ १४ ॥

उत्सर्गसिद्धाना जीवाद्यक्षराणामपवादः । अकारः प्रथमस्वरः येषामक्षराणामन्तर्भूतः, ते
जीवाक्षराः प्रथमस्वरसयुक्ताः । अथवा अकारेण युक्ताः 'क च ट य श ग ज ङा' एते(ति)ऽष्टौ
लब्धक्षराः अनभिहता मात्रारहि[५०७, पा० २]ताश्च जीवचिन्तां कथयन्ति । अनुक्ता अपि धातु-^{२४}

(द्व)मूकस्त्रियाभ्यां गाभाया[म]न्तर्मुताये वेत्तुप्यन्ते । 'त ए प व स' इत्येते पंच परत्वभराः कक-
 धिहताः कचबो मात्रास्त्रियाभ्य जीववातुकिन्ता कचवन्ति । ककार एक एव भूम्यद्ये क्तु ।
 कतमिहोतो मात्राविचरितः स कजीवमूकनिन्ता कचवन्ति ॥ १४ ॥

मत्तासु जो विअप्पो, जो वि य आसिगिओ वि अमिपाओ ।
 तं सबं वण्णेहं, जह्कम्मं आणुपुवीए ॥ १५ ॥

मात्रासु बो विअस्य इति वक्ष्यमाणोपम्भाचार्यगाथा । विअस्यमहमेव धाद्यमेव कचन्ते ।
 स प[वं] विरैम्मात्ता अओमात्रा इति । [१ व १] आसिगितामू(वि)भूमिउद्यमकचबोतवा-
 वा[ए] व(मि)वा । तयेउत् सप्रपंचं ववाकममातुपूर्व्या कचमिन्वामः ॥ १५ ॥

पढमो तइओ य सरो, सत्तम णवमो य तिरियमायाओ ।

मूकसर उट्ट(ञ्ज)मत्ता, पंचम-छट्टा अहोमत्ता ॥ १६ ॥

ककार मवमा कउ इकारा पृथीयकउ एकारा सतमकउ, ओकारो तवमकउ—एते
 चत्वारः कउचिर्पगात्राः । एतेषु मूकबोली कम्भायां विरैम्मात्तायां वस्ता(इता) क्तायां वा
 संवन्धि मुट्टिपृथीयं किमपि कचवन्ति । तद्यप्रभेऽप्यन्तुपृथीयैर्वाभागानिउद्यममेव एव कराः
 कचवन्ति । ईश्वरपुत्र्यै, देकारोऽप्यया, औकारो वस्ता । [१ व १] एते त्रया कउ क्तु
 मात्रा । मूकबोली कम्भायां वृद्धकोर्कमहासंबन्धि किमपि मुट्टिपृथीयं कचवन्ति । तद्यप्रभे
 मायानिउद्यममेते त्रयः कराः कचवन्ति । पंचमः ककार, षष्ठा औकारः एतौ द्वौ कतौ
 अओमात्रौ मूकबोली कम्भायां वृद्धभाबोधमासंबन्धि किमपि मुट्टिम(पृ)थीय(तं) कचवन्त(वः) ।
 मद्यप्रभेऽप्यभोमागप्यवलिवा(त)मेवावैव सरो कचवन्त ॥ १६ ॥ [१ व १]

जीवाईसट्टण, णियमा व[रि]संति उट्ट(ञ्ज)मत्ताओ ।

व(वि)वरीय अहोमत्ता, णायसा जीव-भ्याऊणं ॥ १७ ॥

कृन्मात्रा वि(वेऽ)मिहवाकवकाया कराः । ते जीवाकउयो पंचरक्षाणाःपुनरिगता जीवमूक-
 संज्ञानं वरैवन्ति । कचं मूकमुच्यते । तस्मिन्तुत्थीर्षप्रस्तिगमज्जन्तमजीवमूकसंज्ञानमुच्यते
 इति । अओमात्रो(भौ) द्वौ कउतुक्को(कौ) तौ क्ता जीवाकउसंजुक्ते इहप(एवे)ते तथा जीववा-
 त्तु वरैवन्तः । [१ व १] को जीववातुतिज्जोच्यते—सुवर्णैक्यवर्णता(वाक्ता)ऽरक्षन्त(अ)वाप-
 वाविच्येवंतिवेत्तु वातुपु(पु)त्थीर्षो जीवाकउसंज्ञाना सकम्प्राभिगणो जीववातुमित्युच्यते ॥ १७ ॥

मूकमन्तरा उ सभे, घाठं वसंति जे अहोमत्ता ।

वंसंति तिरियमत्ता, परपक्खगमा उभयपक्ख ॥ १८ ॥

मूकमन्तरा 'क क न व म र क पा' आद्यायेते कच्य व(व)ओमात्रा(वा) ककारवसमेता वरा
 इहपन्ते तथा वातुपुत्थं वरैवन्ति । विरैम्मात्तामि[१ व १] इत्यामत्ताये जीवकरा, ते
 मूकमन्तरावातुपरिगता जीवमूकं वरैवन्ति । जीवमूकस्य आकारः । पूर्वोक्तमेव । वरवमन्तरा-
 वरपरिगतायेते तथा जीवकरावत्ताये इहपन्ते तथा जीवपातुं वरैवन्ति । जीववातुसंज्ञानं
 बोध्यमेव ॥ १८ ॥

सविसर्ग-विन्दुसहिया, जीवाइ णिदि[हि]संति सट्टाणं ।
अहमन्तलक्खणं पुण, सव्वेसिं सकायगुरुयाणं ॥ १९ ॥

सविसर्ग-विन्दुसहिताः— विमर्गो ऽदसः (शः) स्वरः, विन्दुरेकादसः (शः) । [५० १०, पा० २] एतौ द्वौ जीवाक्षरसहितौ जीवयोनिं कुरुतः । यदा च द्वावेतौ स्वरौ मूलाक्षरसहितौ दृश्येते, तदा मूलयोनिं कुर(रु)तः । धात्वक्षरसहितौ धातुयोनिं कुर(रु)तः । अधोमात्रलक्षणप्रहणेन पच भण्यन्ते । तद्यथा— स्वकायगुरुः, स्ववर्गसंयोगः, परवर्गसंयोगः, अर्द्धकान्तं, त्र्यक्षरसंयोगश्चेति । तत्र तावत् स्वकायगुरोर्लक्षणमुच्यते— द्वौ ककारौ सयुक्तौ, द्वौ गकारौ, द्वौ टकारौ, एवं सर्ववर्गेषु व्याख्या । स्वकायगुरवो जीवयोनी लघ्वायां प्रष्टुः स्वकायचिन्ता कथयन्ति । धातुयोनी लघ्वाया [५० ११, पा० १] आत्मार्थे धातुचिन्तां कथयन्ति । मूलयोनी लघ्वायां आत्मार्थे मूलचिन्तां कथयन्ति । स्ववर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते— रकारस्योपरिगतः ककारः, घकारस्योपरिगतो गकारः, एव वर्गे द्वौ द्वौ स्ववर्गसंयोगौ भवतः । जीवयोनी लघ्वाया प्रष्टुः स्ववन्दुचिन्ता कथयति (न्ति) । एतौ धातुयोनी लघ्वायां स्ववन्दुचिन्ते धातुचिन्ता कथयन्ति । मूलयोनी लघ्वाया स्ववन्दुचिन्ते मूलचिन्तां कथयन्ति । परवर्गसंयोगस्य लक्षणमुच्यते— गकारस्य उपरिगतः चकार (रः), गकारस्य उपरिगतो जकारः, पकारस्योपरिगतो (तः) सकारः; इत्येवमादयोऽन्येऽपि परवर्गसंयोगा जीवयोनी लघ्वाया [५० ११, पा० २] प्रष्टुः पर[प]श्चिन्ता दर्शयति (न्ति) । धातुयोनी लघ्वाया परपक्षकृते धातुचिन्ता कथयन्ति । अर्द्धकान्तस्य लक्षणमुच्यते— उपरिर्द्यद्व्योधा (उपर्यधोऽ)क्षराणां तुल्यसरयया सो अर्द्धकान्तमित्युच्यते । निदर्शनं यथा— 'क्वक्वप्र' इत्येवमादयः । चिन्तायां जीवयोनी लघ्वे स्त्री-पुरुषचिन्ता दर्शयन्ति । [५० १२, पा० १] धातुयोनी लघ्वे स्त्रीसवन्धेन धातुद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम् । मूलयोनी लघ्वे स्त्रीसवन्धेन मूलद्रव्यं लभ्यत इत्यादेश्यम् । त्र्यक्षरसंयोगस्य लक्षणमुच्यते— त्रिभिस्त्रिभिरक्षरैर्योगः सफ्यक्षरयोगः । यथा— 'क्लि-क्लि-क्वि-क्वि-क्वि-प्य (ः)' एवमादयोऽन्येऽपि जीवयोनी लघ्वाया पृष्ठ (प्रष्टुः) [५० १२, पा० २] अपत्यचिन्ता कथयति (न्ति) । मूलयोनी लघ्वाया अपत्यार्थे मूलचिन्ता कथयन्ति । धातुयोनी लघ्वाया अपत्यार्थे धातुचिन्ता कथयति (न्ति) ॥ १९ ॥

अभिहयगुरुअक्खरया, रेफ यकार उ ज(ऊ?)कारसंजुत्ता ।

सव्वे य अहोमत्ता, गायवा अप्पहाणा य ॥ २० ॥

'रेफ व(य?)कार उकार ऊकार' पतेपां [५० १३, पा० १] मन्वतमेनाधोगतेन जीवधातुमूलाक्षराणां अन्यतनो(मो)ऽक्षरः सयुक्तमु(क्त उ)च्यते । तैरेवाधोगतैः अभिहत उच्यते । तैरेवाधोगतैरप्रधानमुच्यते । जीवयोनी लघ्वाया यस्य कस्यचिदक्षरस्य तले यदा रेफो दस्य (श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्वार्थे पृच्छति तस्याधः फा [५० १३, पा० २] ये स (श)क्षप्रहार आदेश्यः । जीवयोनी लघ्वाया यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले यदा यकारो दस्य (श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्वार्थे पृच्छति तस्य स्त्रीनिमित्तं वन्धनमादेश्यम् । जीवयोनी लघ्वाया कस्यचिदक्षरस्य तले उकारो दस्य (श्य)ते, तदा प्रष्टा यस्वार्थे पृच्छति तस्य मूलमादेश्यम् । जीवयोनी लघ्वाया यस्य कस्यचिद् अक्षरस्य तले ऊकारो दस्य (श्य)ते तदा प्रष्टा यस्य कृते पृच्छति तस्य [५० १४, पा० १] दीर्घकाल वन्धनमादेश्यम् । पते चार्था यद्यपि गाथाया नोक्तास्तथाप्येते द(द्र)ष्टव्याः ॥ २० ॥

जाणे सवग्गगस्स(गुठ)ए, जोणी जा जस्स अप्पणात्तणिय ।

परवग्गगस्स(रठा)ए, जो उच्चरिं वस्स सा जोणी ॥ २१ ॥

यस्मिंश्चि स्तवर्गाद्यरेवाद्यरो गुडव(र्ष)व यथा-‘वरा ग्’ आम्बं जीवो वचम्ब ।

‘व स्’ आम्बं वातुव(र्ष)वम्ब । ‘इ म्ब जा(१) एवयानिभिर्मुम्ब । परवर्गेवापि बोध्यते

। गुडवर्षं वपरिचितवर्षा(१-१० व १)स सा बोमिः । निर्वर्त्तनं-‘म्ब रूप जा(१)’ इत्येवयारवो यथासंस्थेन जीववातुमूषाभि ॥ २१ ॥

आइह्छा चत्तारि वि, जीवा पयही ह्वति ठाणाइ ।

पंचमउठ्ठा धामो, मूलपयही य दो चरिमा ॥ २२ ॥

१ अथा जीववरा[ः] वत्पारा । ‘अइएव’कारे वर्णागत यवानो(वो) म गुरीवा । एते

जीवाद्यराजपुपरिगता नि(नि)X १ १५ व १ उं(उं)वं जीवमेव दर्शयन्ति । एतद्वि(रे) एव

जीववराः जीवमङ्गला पालकपुत्रपुपरिगता जीववातुं कुर्वन्ति । मूषाद्यराजपुपरिगता जीव

मूळं दर्शयन्ति । जीवमूळ-जीववातोर्ध्वं प्राणुक्तमिति । पंचम वकार(रा), पञ्च ककार, पयौ

द्वौ वातुवर्षौ पालकपुत्रपुत्रयोग्यौ प्राणुमेव दर्शयतः । [१ १५ व १] ‘वं’ वातुवरादिस्य

केवले वातुमेव कववति । ‘ज’ चरिमो जीववरा केवले जीवमेव कववति । पूर्वोक्तवर्षं

जीव(वा)द्यराजपुपरिगतो चरिमसंज्ञानुत्पादो जीवमेव कववति । एतद्व्यवहारमको मवति । वराज-

वराजपुपरिगतोऽनुत्पादो प्राणुमेव कववति । मूषाद्यरोपरिगतोऽनुत्पादो मूळं दर्शयति । ‘ज’

चरिमसंज्ञो विसर्ग[ः] जीवाद्यराजपुत्रपुत्रमज्ञापित(वो)जीवपुवर्त्तयति । पालकपुत्रपुत्रो वातुं

दर्शयति । मूषाद्यराजपुत्रपुत्रपुत्रो म्बवन्तिवो विसर्गः [मूळ]मिव दर्शयति । चरिमसंज्ञं

इ(त्रि)व्यपि चर्त् १ १५ व १ उं(उं) मवतीति । सामान्ययोनि(निः) सभासा ॥ २२ ॥

सी(धि)द्याद्यरिमात्पार्थ मथोवन्त्याव वदुपन्थासा-

उर-कठ-जीहमूला तालशा तह य उरुतालशा ।

वंसा उठ्ठा अणुणासिया य मुक्कजा(मुक्कवन्)रा चैव ॥ २३ ॥

एव जामपि वर्णानां एवोत्पद्ये । वरा(वराजा), कण्ठाः शिङ्गामूहीवा, तालम्बा,

चूर्णुवाडम्बा, रज्जा, धीज्जा वातुमासिक्का मूर्ध्न्वायेति वराजान्वाङ्मनस्यराजीति

गपार्थः ॥ २३ ॥

सभिसम्मो य अक्करो, उक्करो (ठिरो) ह्कारो य जो इवइ ह्स्तो ।

ह्स्तस(स्स)रा य कंठा, जीहमूला क ल ग धा य ॥ २४ ॥

चर्त्(भि)सर्गो, अक्कारः इत्यत्र इत्येवौ व(र)वो वावम्बो । इक्कवराः [१ १५ व १]

अइएव वत्पारोऽप्येते कण्ठाः । ‘क ल ग ध’ इत्येते वत्पार(रे) शिङ्गामूहीवा ॥ २४ ॥

सचठ्ठा(मा)अ पडमा, तालशा व छ ज्ञा य चत्तारि ।

ट ठ ङ ङ धीओ य सरो, इर्वति सल्लु मुक्कतालशा ॥ २५ ॥

मथमवर्त्तनं चतस्रो पञ्च(रा), च्छा चतस्रवर्त्तनं मथमो वक्करा, अष्टवर्त्तनं मथमा

स(श)कारः । 'च छ ज झ' इत्येते चत्वारस्तालव्याः । 'ट ठ ड ढ' इत्येते [प० १७, पा० १] चत्वारः, द्वितीयस्वर आकारः, पञ्च एते मूर्द्धन्तालव्याः ॥ २५ ॥

त थ द ध सा पु(प)ण दंता, प फ ब भ धातुस्सरा वकारोच्चा(ट्टा) ।

वगचरिमाणुणासी, मुद्धण्णा सेसया सवे ॥ २६ ॥

'त थ द ध सा' इत्येते पञ्च दन्त्याः । 'प फ ब भ' इत्येते चत्वार(रः), धातुस्वरौ च द्वौ पञ्चमपष्ठौ उ ऊ, 'व' कारश्च, सप्तैते औष्ठ्याः । वर्गचरिमग्रहणेन पञ्चमानुनासिका 'छ वा ण नमाः' गृह्यन्ते । [प० १७, पा० २] अथवा वर्गग्रहणेनानुनासिकाः, स्वराणां च मध्ये चरिमौ ऽनुनासि[को] विन्दुः, 'अ' इत्येते च पडनुनासिकाः । शेषाः-स्वराः के ते ? 'ई ऐ औ' त्रयः । शेषास्त्र(श्वा)क्षराः 'रं ल पा' इत्येते त्रयः । एकत्र पड् मूर्द्धन्त्याः । सि(शि)क्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥ २६ ॥

अत्रावसरप्राप्ता अक्षरलब्धिः, [तां] नामप्रकरणेऽभिधास्यति । इह ति(तु) प्राप्तिमात्र-मुच्यते । तदर्थं गा[प० १८, पा० १]थामाह-

ठाणं ठाणं एक्केक्यं तु आलिं गिघा(या)इ हायंति ।

उरसादी ठाणाणं, तालव्वे उवरिमो ठाइ ॥ २७ ॥

स्थान स्थानमेकैकमालिं गिताभिधूमितदग्धास्यजन्ति । उरस्या निहतास्तालव्ये[त्त] इत्येवं क्रम अभिहत इति । अभिहतग्रहणेनालिं गिताभिधूमितदग्धा उच्यन्ते । उत्तरस्यो(उरस्यो)ऽन-भिहतो असयुक्त उरस्य एव लभते [प० १८, पा० २] अक्षरम् । उरस्य आलिं गितकण्ठस्थानं लभते । उरसोऽभिधूमितो जिह्वामूलीय लभते । उरस्यो दग्धस्तालव्यं लभते । कण्ठ्योऽनभिहतासयुक्तः कण्ठ्य एव लभते । कण्ठ्य आलिं ग्य(गि)तो जिह्वामूलीयं लभते । कण्ठ्योऽभिधूमितस्तालव्यं लभते । कण्ठ्यो दग्धो मूर्द्धन्तालव्य लभते । जिह्वामूलीयोऽनभिहतासयुक्तो जिह्वामूलीयं लभते । स एवालिं गितस्तालव्यं [प० १९, पा० १] लभते । स एवाभिधूमित ऊर्द्धन्तालव्यं लभते । स एवा(व?)-दग्धो दन्त्य लभते । तालव्यो अनभिहतासयुक्तस्तालव्य लभते । स एव दग्धो दन्त्यं लभते । तालव्यो(व्य) आलिं गितः ऊर्द्धन्तालव्य लभते । स एवाभिधूमितो दन्त्य लभते । स एव दग्धो(ग्ध) उ(औ)ष्ठ्य लभते । मूर्द्धन्तालव्योऽनभिहतासयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिं गितो दन्त्य लभते । स एवाभि[धूमि]त उ(औ)ष्ठ्य लभते । स एवा(व?)दग्धो अनुनासिकं लभते । दन्त्यो अनभिहतासयुक्तः(क्तः) स्वस्थानं लभते । स एवालिं [प० १९, पा० २] गित औष्ठ्यं लभते । स एवाभिधूमितो अनुनासिकं लभते । स एव दग्धो मूर्द्धन्त्य लभते । औष्ठ्यो अ(ऽ)नभिहतासयुक्तः स्वस्थानं लभते । स एवालिं गितोऽनुनासिकं लभते । औष्ठ्योऽभिधूमितो मूर्द्धन्त्य लभते । दग्ध उरस्य लभते । अनुनासिको अनभिहतासयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिं गितो मूर्द्धन्त्य लभते । [प० २०, पा० १] अभिधूमित उरस्य लभते । दग्धः कण्ठ्य लभते । मूर्द्धन्त्यो अनभिहतासयुक्तः स्वस्थानं लभते । आलिं गित उरस्यं लभते । अभिधूमितः कण्ठ्य लभते । स एव दग्धो जिह्वामूलीय लभते ॥ २७ ॥

॥ एवं स(सा)मासि(सि)कं शिक्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥

पद्मां सङ्गो य सरो, सप्तम णवमो य सकडा हुस्ता ।

वियडा अंतरदीप १ २ ५ १ ह्रा वि षटत्यो षमो चैव ॥ २८ ॥

अकार इकार-एकार भोकार, बलात्प्राप्ती संकटसंज्ञां हुस्ताम् । प्रमादप्राप्तौ मध्ये यदा संकटसंज्ञादुर्लभं भवति तदा प्रज्ञा यस्मान् मोक्षं दृष्टति आत्मनो(मः) वस्तु वा ब्रह्म तदा मोक्षो [नः] भव[ती]त्यादेशम् (२५) । अत्रमपि न कथ्यते । दुग्ममहादिकं न प्राप्नोतीत्यादेशम् (२६) । एतद् व्यतिरिक्तमप्यहं यदा [१ ११ ५ १] दृष्टति तदे(र्यं) संकटसंज्ञानां स्वान्तं बाहुस्ये सर्वं मेव सम्भव इत्यादेशम् । विकटा अन्तरदीपाः । के इत्यत्रोप्यते — द्वितीय आकारः चतुर्थ ईकारः, पंचम ककारः, षष्ठो विकटसंज्ञा अन्तरदीपार्थः । प्रमादप्राप्तौ मध्ये यदा विकटसंज्ञानां स्वान्तं बाहुस्यं भवति तदा प्रज्ञा यस्तु कथमपि परस्मात्प्रतो वा ब्रह्म माहं [१ ११ ५ १] दृष्टति तदा मोक्षो भवतीत्यादेशम् । अत्रमपि कथ्यते । दुग्मादिनाम्य लिप्सति इत्यादेशम् । एतद् व्यतिरिक्तं परम्यनु(ष्ट) कामादिकं दृष्टति तत्र भवतीत्यादेशम् ॥ २८ ॥

सकडा(ड)विभडा सेसा, सहा[व]वीहा य तिष्णि गि[य]मर्ण ।

छट्टुमा य धेष्णि विसमस्सरो चैव गायबो ॥ २९ ॥

संकट-विकटाः शेषाः स्वमाहंशाम् । पञ्च इकारः एकारोऽयमः आकारो वस्मात् इत्येते त्रयः । शेषमहपाद् विन्दु-विभङ्गनीया । प्रमादप्राप्तौ मध्ये संकट-विकटसंज्ञानां बाहुस्यं भवति तदा प्रज्ञा यस्तमना यति वा पदमार्थे कथस्य माहं [१ ११ ५ १] दृष्टति तदा मेरेण सुष्यत इति वक्तव्यम् । अत्रमपि विकटस्यं मेरेण कथ्यते । दुर्गायतोऽपि धेवैव भवतीत्यादेशम् । धनमप्येवह व्यतिरिक्तं सुममग्रम वा दृष्टति तन्मध्यं भवतीत्यादेशम् ॥ २९ ॥

पद्मा(म त)द्वया य वियडा, धीय षटत्या य सकडा बग्गा ।

सेसा क(सं)कड-वियडी(डा), अ ड ई दडस्त मेदतिम ॥ ३० ॥

प्रथमा — 'अ षटपवसा(षा), [एवीया] गजडवषडसा' एतौ विकटसंज्ञौ । प्रत्ययन् कथम् । द्वितीय(या) — 'अ षटवकारवाः चतुर्थ(र्वा) — 'अ षडधमवडा' एते संकटसंज्ञाः । पूर्ववन् कथम् । शेषमहपाद् [१] 'अ म न मा' एते अत्रपलघावाः । एतौ विभङ्ग इत्यनुप्यते ॥ ३० ॥ [१ ११, ५ १]

॥ एष संकट विकटमकरणं समाप्तम् ॥

धमो गणणादेशे, स(व)धेसु य उचराहरो होइ ।

बग्गा(ग्यु)चरा य नियमा, अ ष त य वग्गत(ग्यु)भा षउरो ॥ ३१ ॥

उचराहरो चतुर्विधं — वर्णोत्तरं पञ्चोत्तरं आतोद्योत्तरं इत्योत्तरं चेति । अत्र अ संख्या अत्र — ११११ चैरेव उचरा अहय न वेति जाये बलात्परप्राप्तौ । तर्हं प्राग् चर्णोत्तरमुच्यते — [१ ११ ५ १] 'अ ष ट प' एते बलात् बग्गा । उचरा यवाना इत्यर्थः । उचराहरो (धे) 'अ ष व ष' संज्ञाधत्वात् अत्रय अत्रयानामेति ॥ ३१ ॥

एतदेवाह -

सेसा हवन्ति अहरा, वग्गा चत्तारि क ट प सा जाण ।

एक्केकंमि चउक्के, पुणो वि इणमो कमो णेओ ॥ ३२ ॥

अ[ष्टव]र्गक्रम एव, चत्वारो वर्गा अधराः । के ते ? 'कटपसा(शा)' शेषग्रहणाद्
भण्यते ॥ ३२ ॥

गाथापञ्चाद्विस्यान्य[प० २३, पा० २]गाथया विभाषा क्रियते -

एक्केकंनि(मि) चउक्के, पुणो पि(वि) इणमो कमो उ विण्णेओ ।

दो उत्तरा उ तेसिं, दो चिअ अहराधरा विदिए ॥ ३३ ॥

निरूपित उत्तरचतुष्क अधरचतुष्क चेति । तत्र चतुष्कद्वये भूय[ः] प्रधानाप्रधानदर्श-
नार्थं क्रमोऽय विज्ञातव्यः । उत्तरचतुष्के द्वौ यथा - अ च वर्गौ प्रागुत्पन्नत्वाद् । द्वौ च इति 10
द्वितीयचतुष्कमाह । तत्रान्यौ द्वौ वर्गौ 'प श' अधराधराविति मन्तव्यौ । अथवा द्वितीयवर्गौ द्वौ
द्व[व]धराविति । द्वौ अधरौ 'कट' सङ्घौ । द्वौ अधराधरौ 'प स (श)' सङ्घौ । एवं वा नेयम् ॥ ३३ ॥

अनु(सु)मेवार्थं विशेषयन्नाह -

दो चेव उ [प० २४, पा० १] उत्तरोत्तर, तेसिं दो उत्तराधर(रा) पढमे ।

अधरुत्तरा य दोणिण य दोणिण य अहराहरा विदिए ॥ ३४ ॥

तत्र उत्तरचतुष्के पूर्वोत्पन्नत्वात् प्रधानत्वाच्च 'अ च' एतौ उत्तरोत्तरौ । आभ्यामनन्तरप-
ठित्वात् 'त य' एतौ उत्तराधरौ एव प्रथमचतुष्के । द्वितीये तु 'कट' इत्येतौ अधरोत्तरौ । अधर-
चतुष्कत्वाद्दधरौ प्रागुत्पन्नत्वाद्दुत्तरौ । द्वौ अधराधरौ । 'प स[श]' सङ्घौ अधरचतुष्क(त्वा)दधरौ ।
'कट' वर्गयोः पञ्चादुत्पन्नत्वाद् अधराधराविति । एव अष्टवर्गक्रमेण वर्गोत्तरमुक्तम् ॥ ३४ ॥

पचवर्गयित्(प्यमेत्त् ?-) ।

पढम-त्तइया उ वग्गा, पणहरस य उत्तरक्खरा होंति ।

वित्थिय-चउत्था अहरा, अ[हरा]हर हो[प० २४, पा० २]ति अणुणासी ॥ ३५ ॥

प्रथमवर्ग[ः] - 'क च ट त प य स (श)' इति । तृतीयो - 'ग ज ङ द घ ल स' । एतौ वर्गौ
उत्तरोत्तरौ, उत्तरावित्यर्थः । द्वितीय[ः] - 'स ल ठ थ फ र प', चतुर्थ - 'घ झ ढ ध भ व ह',
इत्येतौ वर्गौ अधरसङ्घौ । 'ङ व ण न म' इत्येपो(प) वर्ग अधराधरसङ्घः । एवं वर्गोत्तरम् ॥ ३५ ॥ 25

साम्प्रत गणनोत्तरम्, तदर्थं [गाथा] -

गणणाए छा [प० २५, पा० १] इच्छा, सरुत्तरा छस्सराधरा इयरे ।

विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणिया ॥ ३६ ॥

गणना-अनुक्तो भण्यते । तत्र स्वराणामाद्याः पङ्क उत्तराः, पूर्वोत्पन्नत्वात् । 'अ आ इ ई उ
ऊ' । पञ्चादुत्पन्नत्वाद् अधरा 'ए ऐ ओ औ अ अः' । यद्वाऽन्यथा गणनोत्तर(र) स्वराणाम् 'अ इ उ ए ॥
ओ औ' द्वयोर्द्वयोः प्रागुत्त्वा[प० २५, पा० २]त्त्वादेते उत्तराः । पञ्चादुत्पन्नत्वाद् 'आ ई ऊ ऐ औ
अ' इत्येते अधरा । यत इदमाह -

"विसमा वि उत्तरा वंजणेसु अहरा समा भणिया ।"

इहानि गन्तमेवाहीह्योत्सम् । विवर्णाः]—प्रथम-दृतीय-चतुर्थ-वर्गीया वन्ता । द्वितीय-
चतुर्थाः सया इति । विषमवर्गीया वचताः, समवर्गीया अपय इति । एवं मनोचरम् ॥३९॥
हस्ता अपारसहिया, सरुत्तरादेसओऽपरा इयरे ।

कश्चटतपय सा शुगमो य अकारो उत्तरो पदमो ॥ ३७ ॥

आदेशोचरमेतन्—इत्याः सय अकारसहिवा इति । अकार इकार वकार एकार ओकार
अह्यते वचरखेत् [१९ ८ १] इति । एतेषां यपि मन्वे वचते अप्रधाना वारुण्यः,
वचानुचर एव इहम्या । उच्यते एवमुचरं इति स वचर एव । यदपरं इति स अपये
व्यः वचते मन्ति । इयाः इह अचरा पूर्वोच्य मन्ति मेचोचरप पुनरविद्याः । आ ई ह्ये ओ ऋः,
अकश्चटतपय इत्यन्वमूतोऽप्यकार वचर(ते) इहम्याः पूवगती ॥ ३७ ॥

क ग ष ञ ट ड त द्प व य ल, अहममगस्त पदम सह्यो य ।

एते [य] उत्तरा वजनेसु सेसा अ(ऽ)धरादसे ॥ ३८ ॥

अ ग ष ञ ट ड त द्प व य ल स सा' एते प्रथम-दृतीय-वर्गीयाः । प्रथमवर्गीयाः अ(ऽ)-
कार । तन्नाम् दृतीयः [१९ ८ १] 'स'कारः । एते सर्वे वचरत्वेनादिद्याः । इया अपय इति ।
'अ'पय ञ ट ड त द्प व य ल स सा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्गीयाः अचरा आदिद्याः ॥ ३८ ॥

उत्तरसरसजुचा, मग्गे लहु अन्तर(र)चरादसे ।

अहरसरेसु य अहरा, ह्वति ये उत्तरा लहुया ॥ ३९ ॥

संयोगं इति वचरखरसंयुक्त[र] । के ते वचरत्वाः । इत्यन्ते—अ इ ए ओ ऋ
[१९ ८ १] एते । प्रथम-दृतीय-वर्गीयवत्त्वा के अह्यते वचराः । के ते ? इत्यन्ते—अ ग
ष ञ ट ड त द्प व य ल स सा' इत्येते । अन्तरेण वचरस(ल)रसंयुक्त वचरा एवादि-
[१९] इत्येते । एत एव 'अ ग ष ञ ट ड त द्प व य ल स सा' वचरावर्त्तते । 'आ ई ह्ये ओ ऋ'
इत्येते(ते) संयुक्त अचरा इत्यदि(ए) इत्येते । एवमादेशोचरम् ॥ ३९ ॥

द्वेषेसु जे पहा १० ८ १णा, पुषप(पुष्प)णा य उत्तरा सवे ।

अमरा य अप्यहाणा, पशुप(पशुप्य)णा य जे दहा ॥ ४० ॥

इत्याहरेषु के प्रधानवन्ताः पूर्वोच्यन्ताः प्रथम-दृतीयवर्गीयवत्त्वे वचताः प्रधाना इत्यन्ताः ।
अचरत्वा पशुप्यहाणाः । के ते ? द्वितीय-चतुर्थवर्गीयाः । अप्रधाना इत्यन्ता अचरत्वेति ॥ ४० ॥

णा(णे)निचिपुण जे [१९ ८ १] वा, उत्तरमुदीम् असणो गहिया ।

ते तस्त उत्तरानि उ, सेसा अहरीकया अहरा ॥ ४१ ॥

वचरो वे निवन्ता वचरावर्त्तते वचरावर्त्तते वा क(ऽ)रावर्त्तते विवाचमुदी-
ह्य निवन्तावर्त्तते चोपवर्त्तते आदिवर्त्तते निमित्तज्ञानवत्तो इति चि तुज्जुत्याः । वचरो
अचरत्वा [१९ ८ १] इति । अचरो वचरमुदीया पशुप्यहाणा अचरोऽपि वारणा(पि)वादी । यथा—
आह्वानवर्त्तते विवाचमुदीयो योवचरोऽपि पूर्वोचरत्वावर्त्तते तु इह विवाचमुदीवर्त्तते ॥ ४१ ॥

॥ एव चतुर्विधम(ऽ)उत्तरापर समाप्तम् ॥

‘अह्वा इमं अट्टविहं उत्तराधर होइ’ सूत्रवचक(न)मेतत् । अथवाऽऽष्टप्रकारमेतदुत्तराधरं भवतीति वचनस्यार्थः ।

अक्खरसरसंजोए, बलाबलविसेसओ अणति(हि)घाए ।

तत्तो य उत्तरोत्तर, अहराअ(ऽ)हर अट्टमं जाणे ॥ ४२ ॥

साम्प्रतं गाथार्थमु(र्थं उ)च्यते—स्वरोत्तर प्रथमं, अक्षरोत्तर द्वितीयं, सयोगोत्तर, बलाब- 5
लोत्तरं, विभागोत्तर, अनभि[प० २९, पा० १]हृतोत्तर, [उत्तर,] उत्तरोत्तर चेति । एवमधरमपि
अष्टप्रकारमेव सप्रतिपक्षत्वाद् वस्तुम(नः)स्वराधर, अक्षराधर, सयोगाधर, [बलाबलाधर,
विभागाधर] अनभिहृताधर, अधर, अधराधर चेति ॥ ४२ ॥

हस्सस(स्स)रुत्तरं अक्खरुत्तरं उत्तराख(रक्ख)रा सव्वे ।

हस्सस(स्स)रसंजुत्ता, संजोएणुत्तरा लहुया ॥ ४३ ॥

अत्र स्वरोत्तरमुच्यते गाथाया अवयवेनाद्येन । ह्रस्वस्वरोत्तरम् । के ह्रस्वाः स्वराः ? ‘अ
इ ए ओ’ इत्येते चत्वारः । अक्खरुत्तर उत्तरक्खरा सव्वे । क्वे (के) च ते ? प्रथम-तृतीय-
वर्गीया गृह्यन्ते । साम्प्रतं सयोगोत्तरमुच्यते—ह्रस्वस्वरसयुक्ता ला(ल)घवो वर्णाः ‘क ग च ज ट
ड ष ड प घ य ल श सा’ इत्येते । यथा—[प० २९, पा० २] ‘क कि के को, ग गि ने गो, च चि वे चो,
ज जि जे जो’ इत्यादि सयोगोत्तरम् ॥ ४३ ॥

इदानीं विभागोत्तर क्रममुल्लङ्घ्योच्यते, संयोगस्य प्रकान्तत्वात्—

गरुयक्खरा य सव्वे, उत्तरसरसंजुआ विभाएणं ।

सो ठवइ उत्तरो खलु, होंति अ से तिण्णि या(आ)देसा ॥ ४४ ॥

गुर्वा(र्व)क्षरा उक्ता द्वितीय-चतुर्थ्यवर्गीयाः । ते उत्तरस्वरसयुक्ताः, । यथा—‘ख रि खे खो
घ षि वे चो’ । इत्यादिविभागेनोत्तराः । विभागो वदन अस(श) इत्यनर्थान्तरम् । यावता 21
ह्रस्वस्वरसंयोगः । एतावता अंसे(शे)नोत्तरत्व भजन्तो मुख्यतश्चाधरा एव । तस्मात् स्वर
आदेशप्रथमविभा[प० ३०, पा० १]गेन भवति । लघुस्वराः, ह्रस्वाः, उत्तराश्चेति । शेषा दु(दी)र्घाः,
गुरु(र)वः, अधराश्चेति । एव विभागोत्तरम् ॥ ४४ ॥

जो उत्तरेण अहरो, अभिहणंती ठ(य) उत्तरो होइ ।

अहरेण उत्तरो वा, बलाबलं उत्तरं एयं ॥ ४५ ॥

य उत्तरेणाधरः अभिहतः । उत्तरस्याबलीयस्त्वात् । तद्यथा—‘ख क’ । अत्र खकारः आलि-
गितः, क्ख(का)रस्यालिगितत्वात् । एका सख्या हसति । हसी(सि)तैकसंख्या(ख्य)श्च, खका-
र(रः) कै(क)कारो भवति । प्रतिपन्नश्चोत्तरमावं खकारो(रः) अवलत्वात् । [त]था अधरेणाभि-
हन्यमान उत्तरोत्तरो भवति । यथा—‘ग घ’ । अत्र घकारोऽभिधूमिकः । गकारस्य संख्या-
द्[प० ३०, पा० २]यमपनयन्ति(ति) । वृ(त्रि)सख्यत्वा[द्] गकारस्य । हसिते च सख्याद्घे 21
अवलत्वात् । गकारः ककारत्वमापन्न इति । एवमन्यत्रापि बलाबलिनोत्तर परमम् ॥ ४५ ॥

साग्नवमनमिपातोत्तरयुष्मते-

पडमस(स्त)संजुत्ता, अणमिहया जे तु ते अणमिहया ।

उत्तरमभरं वेति य, सजोपुण्येव दो चरिमा ॥ ४६ ॥

प्रथमस्तरसंयुक्तः । कः प्रथमस्तरः ? अकारः । तेन अकारेण संयुक्तः । के ते ? अणमिहया । अणमिहया अण्यन्ते । 'अ ग क ख ट ठ ड द प य ष झ ञ टा' इत्येते अणमिहया(व)संज्ञाः । सेपवर्गास्तत्रमिहयासंज्ञा इति प्रतिपद्यताम्(इ)त्यन्ते । पदव्यभिचारेण वृत्त्यां [११ प १] रेण चरितेण विन्दुना युक्त्येऽप्यर उत्तरत्वं प्रकथितम् । अकारेण विसर्जनीयेन युक्त्येऽप्यरः अकारत्वं प्रकथीत्यर्थः । एवं पद्यो मेवद्यतोऽयम् । उत्तरा वृत्त्याः । उत्तरोत्तराऽप्योक्त्याः । उत्तरप्रतिपक्षेणाप्य [अ] युक्त्याः । उत्तरोत्तरप्रतिपक्षेणाप्यप्योक्त्याः प्रोक्त्याः । इत्येवं अत्रप्रकारस्तु-
५ रावरम्याख्यान्म् ॥ ४६ ॥

एवं सरुत्तरादिस्तु, घलायलं सद्यो पलोपुट ।

चिन्तादीप् भावे, जीवाह व(धि)णिदिसे महम ॥ ४७ ॥

इत्युक्त्ये इत्युत्तरं(१) क्यमत्र सर्वतो विद्येतेषु विन्ता-नङ्-मुञ्जि-जीव-वाह-मुञ्जोर्दि वा विद्येतेषु क्यमिहयेनाहरे(प)वामारिद्येत्सतिमात् ॥ ४७ ॥

५ जीवं ज्ञाणस्तु दोस्तुत्तरेस्तु [११ प १] अहरेस्तु दोस्तु मण घाओ(उ) ।

अहरेत्तरेस्तु मूलं, उत्तरमभरे तथा घाठ ॥ ४८ ॥

धीवं आनीहि । प्रमाद्यत्तप्यामारी पतिवे उत्तराहरेषु धीवं प्रमाद्यत्तप्यां आरौ पतिवे अकाराहरेषु वाहं, प्रमाद्यत्तप्यां आरौ पतिवे अकारे द्वितीये चोत्तरेऽनन्तरं पतिवे मूलमव गच्छ । [११ प १] प्रमाद्यत्तप्या[मो]र्तो वदा उत्तरे हरवये वतोऽनन्तरं आ(वा)वत् ।
५ वदाऽपि वस्तुमेवमवच्छ ॥ ४८ ॥

॥ इत्येव उत्तरावरं प्रकरणं समाप्तम् ॥

दुविहो क्षलु अमिपाओ, सहगओ चैव अक्खरार(र)गओ य ।

सहगओ तिबिगण्णो, मंघो मग्गो य तिबो य ॥ ४९ ॥

द्विविधोऽमिपावः क्षलुगणोऽप्यरावत् । तत्र अ[११ प १] अण्यतो अप्यत्तरवत्तो
५ अण्यत्तरवत्तः पद-सं(सं)-क-मे(उ)-क्यमपठन-मुञ्ज-वाहामिवावमिहयाः । स दु(वि)मिहयाः
(क)स्यो पण्यमो महात्तरे(वा)येति । क्यमपा(क) आर्द्धिगियामिहयावद्वयः । अह-
[१] पठममिवावत्तुपरिहृत् वद्वति ॥ ४९ ॥

एतेषो पुण दुविहो, होइ पसत्तो य अप्पसत्तो य ।

[अ] पसत्तो मंघादी, कुञ्ज आर्द्धिगियादीणि ॥ ५ ॥

५ स अण्यो द्विविधः-महात्तरे(सोऽ)प्यत्तरवत् । वीज-वैकु-सं(सं)-क-मे(उ)-पठममिवावत्तु
प्रवत्तः । कुञ्जपठ[१]-आर्द्धिगियावत्-रासममिहयावत्तः । वा अण्येऽप्य आर्द्धिगियावत्तु-

सो वाऽप्रशस्तो वेति । मध्यमो यः शब्दो [प० ३३, पा० १]ऽभिधूमितसंज्ञः प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा । एव प्रशस्तः, अप्रशस्तो वा यः शब्दस्तीव्रः स दग्धसङ्गः । प्रशस्तो यः शब्दोऽल्पः सोऽल्पफलं ददाति, स्थिर च करोति । प्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यमफलं ददाति, मध्यमं स्वैर्यं करोति । प्रशस्तो यः शब्दस्तीव्रः स महत् फलं करोति, स्वैर्यं च तस्याल्पकालमिति । अप्रशस्तः यः शब्दोऽल्पः सोऽल्पमान्यं करोति, स्वैर्यं च तस्य मान्यं करोति । अप्रशस्तो यः शब्दो मध्यमः स मध्यममान्यं करोति, मध्यमं च स्वैर्यं मान्यस्य करोति । अप्रशस्तो यः शब्दः तीव्रः स महामान्यं करोति, अवस्थान च त[प० ३३, पा० २]स्य मान्यस्याल्पकालमित्येतदपि शुभाशुभमल्पमध्यम-महत्त्वेन द्र[ष्ट]व्यम् । एवं शब्दाभिघातः ॥ ५० ॥

अक्षराभिघातार्थः -

वि-चउत्थ-पंचमाणं, वग्गाणं अक्खरा अभिहणंति ।

एककुत्तरिया य.सरा, अणभिहया सेसया वग्गा ॥ ५१ ॥

द्वितीय-चतुर्थ-पञ्चमवर्गैः प्रथम-वृतीयौ वर्गावभिहन्ते [प० ३४, पा० १]ते । एकान्तरिता-स्व(श्च) खरा[ः] के भण्यन्ते ? इत्यत्रोच्यते - यद्यप्येकान्तरिता बहवः, तथापि 'आ ई ऊ' कारश्च एते त्रय एकान्तरिता[ः] प्रथम-वृतीयौ वर्गा[व]भिन्नन्ति । प्रथम-वृतीयवर्गा ह्रस्वखराश्च चत्वार एते परस्पर नाभिन्नन्ति ॥ ५१ ॥

अणभिहया अनि(व्याभि)हया वा, पिच्छिज्जंता उ आभिघा[प० ३४, पा० २]तीहि ।

आलिं गियाभिधूमितददं(डं) व लहंति ते नामं ॥ ५२ ॥

अनभिहता वर्गो च्छा अभिहताश्च एते अनभिहता वा के ते प्रश्नाक्षरा[ः] ? ते वा प्रश्नाक्षराणां स्थापिताना किमपि धातोऽस्ति नास्ति च इति चिन्त्यम् । यदा प्रश्नाक्षराणां परस्पराभिघात उच्यते तदा प्रथमाक्षरद्वितीयाक्षरत्रि(स्तृ)तीयाक्षरमभिहन्ति । वृतीयाक्षर चतुर्थाक्षरं अभिहन्ति । एवं चतुर्थाक्षर पञ्चमाक्षर, पञ्चम षष्ठः, षष्ठं सप्तमः, सप्तमो(?)ऽभिहन्त्यभिघाते सति । यो यस्यान्तर स तमिति । अभिघातस्यालिङ्गिताभि[धूमि]तदग्धलक्षणमुपरि [प० ३५, पा० १]ष्टाद् विस्तरेण व्याख्यास्यति । यदा प्रश्नाक्षराः सर्वे परस्परमभिहताः, तदा अप्रधाना निफ(क्क)लास्व(श्च) भवन्तीति ॥ ५२ ॥

प्राक् धावत् स्वराभिघाता उच्यन्ते -

अणवि(मि)ह[य] अभिहया वा, अंतरदीहस(स्स)रेहि संजुत्ता ।

अभिधूम(मि)यंति लहुया, दहंति गरुया वि ते चेव ॥ ५३ ॥

अनभिहता अभिहता वा ये प्रश्नाक्षराः । अथवा प्रथम-वृतीयौ वर्गावनभिहत्सङ्गौ । शेषास्त्वभिहत्सङ्गाः । एते अन्तरदीर्घा(र्ध)स्वरयुक्ताः । के ते अन्तरदीर्घस्वराः ? आकारः, ईकारः, ऊकारश्चेति एते त्रयः । एतैरन्तरदीर्घस्वरैः सयुक्ता अभिधूम्यन्ते [प० ३५, पा० २] । अप्रतो धाम(न)न्तरमवस्थितैः । के ते लघ्वक्षराः ? 'क ग च ज ट ठ त द प व य ल श सा' इत्येते चतुर्दश । आकारेण ईकारेण ऊकारेण च सयुक्ता अप्रतो वाऽन्तरमवस्थितैर्विद्यन्ते गुर्वा(र्ध)-

श्रुताः । के ते गुर्वा(र्वा)श्रुताः ? 'तच्छठय करपा' इत्येते सन्त । आकारेण ईकारेण क्रम्येण च [१ १६, ४ १] संयुजा जमवो वाऽन्तरमवस्थितैरैश्रुते(स्ते) परेण । गुर्वा(र्वा)श्रुताः के ते ? 'वसहवमवहा' इत्येते सन्त ॥ ५३ ॥

आलिङ्गियन्ति हस्तस(स्त)रा हु वीहस्तसरा रि(इ)ह वहति ।

पम्हस्तरा उ सवे, संयुजा आणुपुत्री ॥ ५४ ॥

आलिङ्ग्यन्ते हस्तसराः । के ते हस्तसराः 'अइएए' ते चत्वारः । के ते आलिङ्ग्यन्ते(स्ते) 'तच्छठय[१ १६ ४ १] करपाः पसहवमवहा' इत्येते द्वितीय-चतुर्थवर्ग-श्रुताः सन्त । 'पसहव(व)मवहा' चतुर्थवर्गश्रुता इत्यन्ते चतुर्भिः कृतैः । के ते चत्वारः 'ओ औ अं आ' । एवं संयुजाः आणुपूर्व्या आलिङ्ग्यन्ते, अमिङ्ग्यन्ते, इत्यन्ते च ॥ ५४ ॥

अनुमेवार्थं गायान्तरेण प्रतिपादयताह—

अंतरवीहा अमिपूमियति आलिङ्ग(गि)यति जे हस्ता ।

टिह्(दिह्)दो चरिमसरा, अ(स)हाववीहाणुणासीया ॥ ५५ ॥

अन्तरवीह(र्वा) इत्य 'आ ई ऊ' एतेऽमिपूमितसंज्ञा[१] । इत्या इत्य 'अइएए' एते आलिङ्गितसंज्ञाः । [ऐ औ] द्वौ कृतौ चरिमसंज्ञौ वा अ(आ)मेवौ चो इहवा । [१ २५, ४ १]

स्वयामवीर्षाः 'ऊ ऐ औ' अनुवांसिच 'अमजममा' इत्येते ॥ ५५ ॥

कारत्(कि)वा निरूप्याम्यगाथा(व)वा फलमुच्यते—

आलिङ्गिया य आलिङ्गियति अमिपूमिया य धूमैति ।

वहा(हा) य वहति सरा, तेसि जुचं च वरियं(मै)च ॥ ५६ ॥

आलिङ्गितसंज्ञाः के ते 'अइएओ एतेऽमिपूमिः कृतौ ये आलिङ्ग्यन्ते । द्वितीय-चतुर्थ-वर्ग[श्रुता] इत्य एव । अमिपूमितसंज्ञा इत्य 'आ ई ऊ' एतैरमिपूम्यन्ते । प्रथम-द्वितीयवर्गश्रुता-स्तेऽणुच्यते । एवं इत्यसंज्ञा 'उ ऊ अं आ' एते प्रथम-द्वितीयवर्ग इहन्ति । एतदणुच्यम् । 'ओ औ अं आ' एते चत्वारस्तौ कृतौ संयुक्तसराः [१ २७ ४ १] प्रथम-द्वितीय-चतुर्थवर्गश्रुता इहन्ति । इत्येवमुच्यमि पुनश्चम् । 'ऐ औ' एतौ द्वौ कृतौ प्रथम-द्वितीय-मध्यवर्गा इहन्ति । इत्येवदणुच्यम् । एतैरहन्त्यन्तैर्यः संयुज्येऽश्रुतं इहन्ति पूर्वोत्तरं वातन्तरमिति संबोधभावे सति ॥ ५६ ॥

एवं कण्ठविभाव इत्यः । इहानीं वर्गाविभाता—

बीओ य फलम-तइयं, फलम-तइया य ज्ञायदो(जे य हु) चतस्यं ।

आलिङ्गियंति वग्ग, चतस्य पुण पचम वर्गं ॥ ५७ ॥ [१ ३ १०-१]

द्वितीयो वर्गः प्रथमवर्गं द्वितीयं आलिङ्गयति । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गस्य द्वितीयवर्ग-मालिङ्गयति(ति) । तथा प्रथमवर्गस्तृतीयवर्गचतुर्थवर्गमालिङ्गयति । तदुच्यम्— प्रथम-द्वितीयो दोमिप-द्वितीयवर्गचतुर्थ [इ]ति । चतुर्थवर्गः प्रथममालिङ्गयति । अत्र प्रथमवर्गः द्विभिव्यत्यन्तः । द्वितीयो वाह्या(व्या)त्मकः । तृतीय इकारत्मकः । चतुर्थ आकाशा(हा)त्मकः । पञ्चमः अण्त्वत्मकः । इत्येवं पञ्चमह[१ ३ ४ १] मूलमर्थं आगमि[ति] ॥ ५७ ॥

अभिधूमैश्च उत्यो, आइमवग्गे उ तिणिण नियमेणं ।

पंचम-चउत्यवग्गे, दोणिण य अभिधूमये व्रित्तिओ ॥ ५८ ॥

अभिधूमयति चतुर्थो वर्गः प्रथमवर्ग(र्गं) वृ(द्वि)तीयवर्गं वृयतीवर्गं च । द्वितीयवर्गश्चतु-
र्थवर्गं पञ्चमवर्गश्चे(र्गं चे)ति ॥ ५८ ॥

आइल्ला चत्तारि वि, उज्झंति पंचमेण वग्गेण ।

पंचमओ पुण उज्झइ, पढम-तइज्जोसु दोसु पि ॥ ५९ ॥

प्रथम-द्वितीय-[चतुर्थ]वर्गा दहन्ते पञ्चमवर्गेण अत्र्यात्मकत्वात् । पञ्चमवर्गस्तु
दहते विनास्य(श्य)ते प्रथम-चतुर्थी(यैः) पृथिव्यो(व्यु)दकात्मकैः ॥ ५९ ॥

जे जे समाभिलावा, अण्णो[प० ३९, पा० १]ण्णं ते उ णं अभिहणंवे(ते)ति ।

जह क ग च ज मादीया, दो दो लहुआ सुआ अण्णा ॥ ६० ॥

जे जे(ये ये) समानसी(शी)ला लघवश्च मायेते(?) लघवः अन्योन्याना(न्ना)भिघ्नन्ति ।
के ते समानसी(शी)लाः, ते उच्यन्ते-‘क ग च ज ट ड त ढ प व य ल स (श) सा’ इत्येते । प्रथम-
वर्ग(स्व)तीयवर्गश्च लघुसकौ । अनयोरासनों(न्नो) द्वितीय-चतुर्थवर्गौ गुरुसकौ भवतः । पर-
स्परभिघातकौ चेति ॥ ६० ॥

अभिहणमाणे दिट्ठो(ट्टे?), जोणीसंठाणवण्णमाईणि ।

अभिहणमाणस्स ऊ (?) भवे, ण जो उ अभिहण्णए तस्स ॥ ६१ ॥

अभिहन्यमाने दृष्टे । कोऽभिहण्यन्ते(न्यते) । दो(यो)भि[प० ३९, पा० २]हन्तीत्युक्तमपि पुनरु-
च्यते-पूर्व(र्व)पूर्वाक्षरोऽभिमेणात्क(क्ष)रेण यादृशेन यादृश इति । पूर्वोक्तं योऽभिहन्ति तस्याभियं-
तु(हन्तु) योनि-स्थान-वर्णप्रमाणादीनि वक्तव्यानीति । कस्मात्कारणादित्युच्यते-येन सर्वोऽभि-
हन्ति वलीयानीति (वलवान् इति?) ॥ ६१ ॥

परवग्गेण उ वग्गो, जो जेण अभिहण्णए उ तो तस्स ।

अभिघ(घा)यं जाणेज्जा, राजादिसंथ(घ)वणा(ण्णा)णं ॥ ६२ ॥

परवर्गेण वर्गो यो येनाभिहन्यत इति । परवर्गस्य इत्यक्षरस्य सद्भा । एतत्तु प्र(ष्ट)धक-
(क्)व सा(शा)त् । पराक्षरेण(?) योक्षरोऽभिहन्यन्ते(ते) तस्याभिहन्या प० ४०, पा० १ मानस्य
पराजओ(यो) वक्तव्यः । अभिहर्त्ते(न्तु)र्जयो वक्तव्यः । एवं ब्राह्मणादिवर्णाना राजन्यस्य वा युद्धे
विवादे वा जय(यः)पराजयो वाच्य इति । आलिङ्ग(ङ्गि)ते भागहानिः । अभिधूमित-अभिघाते
द्वे हानिः क्षयो वा । वग्घे निशे(इशे)पतन्मक्षयो मृत्युर्वा ॥ ६२ ॥

आलिं गियंमि जीवं, मूलं अभिधूमियंमि पण्हंमि ।

दइं(डं)मि भणसु धाउं, एत्तो उच्चं जहा वोच्चं ॥ ६३ ॥

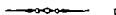
प्रशस्ताप्रशस्ताश्च ये शब्दाः[] पढहकुड्यपतनादिगतास्ते पूर्वोक्ता [प० ४०, पा० २]आलिं-
गाभिधूमितवग्घलक्षणाः । तत्रालिङ्गिते शब्दे [जीव आदेश्यः । अभिधूमिते शब्दे] मूलमादे-
श्यम् । वग्घे दान्ते घाहुरादेस्यः(श्य) । तस्मात् पूर्वो(ऊर्द्धे) ‘यये’ति वक्ष्यमाणकं प्रभम् ॥ ६३ ॥

आलिङ्गियमि कलहो, मंदं अमिघूमियमि पण्मि ।

दुग्मि मणसु मरण, एचो उदं जहा वोष्मं ॥ १४ ॥

अभिग(अ)सि प्रसस्ताप्रसस्तासप्तत एवानसररूपो ष्वमित्तिङ्गत्या(लो)परिष्टम् ॥ १४ ॥

॥ अभिपातप्रकरण समाप्तम् ॥



धग्गाण जह पडमा, गिरंतर वा तिण्ठि पण्माइप् ।

तो सुण्ण जापेज्जा, [ण]वि किंचि वि चितिय तथे(त्थ) ॥ १५ ॥

वर्गाजा एहि [१५ व १] प्रथमा ष्विति प्रथमप्रथमेन ल(ल)राजा प्रथमाः अकार, 'अ' वाक्ये च प्रथमाः अकार 'अ' वर्गस्य च प्रथमस्य (अ)कारः । एते त्रयो वक्ता निरन्तरं प्रथमो हरस्यते तथा सु(घ)म्ब आसीत् । य किञ्चिदसि चित्तितं वरेति । तथा मण्डुकिप्रस्यम् ॥ १५ ॥

अमिहयर्षिदुविसग्गे, चिता मुट्ठी य सुभिया होइ ।

वग्गेह्वहुलवण्णो, तत्प ण कर्जं सुणेयसा(व) ॥ १६ ॥

अ(व)प्र प्रमासत आरम्भादेशे किन्तुनिसागैपमिहवाः । तत्र चित्वाचं मुट्ठी च (घ)म्बम् । तथा एकरार्थिया मेरुतरेण बहो वर्मात्तथापि न कर्जं सु(घ)म्बमित्यर्थः ॥ १६ ॥

मीससु [१५ व २] अत्यि चिता, आभारापेयमिस्तय[ति]दुविहा ।

धम्माधम्मागासा आहारा तिण्णि विन्नेया ॥ १७ ॥

प्रमासतया मध्ये 'अ' क 'वा' एवाऽन्वयार्थे[ण] सतिहा एव(इव)न्ते तथाऽऽदि चित्वा । सा च द्विविधा आचारविषया आशेषविषया वा । अमप[१५-१६ व १] विषयाऽपि संभवा ए(वि)विषया मवतीति । आचारा [अ]कारसि आशि(वे)वा मात्रा । अक्षर-मात्रादेशे च द्विविधा चित्वा । वातु-लोभे ह्यव्यापाम् । वातुत्(वि)विषयो धाम्याः अवास्याः आकासमिति - एवं केचिद् व्याख्या-

मपन्ति । तत्रेणुपरिगापवा सा[१५-१६ व २] विन्त्येते । तस्मात्स्यवा व्याख्यावते-आचारत् (वि)विषया-धर्मावर्माकासावयो [ऽ]मूर्त्ताः । तत्र धर्मावर्मा कोकम्पापिनो । आचारत्तु कोकम्पो च भवती । तत्र गतिव्यक्तयो धर्मावर्मावयो गतिमत्ता जीवन्ता पुंसा(पुं)जाना च गत्युपमदे वसन्ते । अतिव्यक्त्याः (व) अचर्मावर्मावयो अतिमत्ता अतिदेवः । अवया(गा)ह्यव्ययमाकारं, अ-प-वाहिवामपवा[ह]दित्वाऽपि । एते त्रयोऽपि अमूर्त्ता जीव-मूढ-वाद्या अपारं, आवेवा जीववातुमूढा

इति [१५ व १] ॥ १७ ॥

द्वयं(एव) पराह-

जीव घाटं मूल, आपेयं तत्प पट्टमओ जीवो ।

न(अ)ह्वस्सइ सो दुविहो, जीवावयवो य जीवो वा ॥ १८ ॥

जीव[ऽ], प्रथम[ऽ] वातुपरावो द्वितीय[ऽ], मूलवदार्थलगीका । एवं इ(त्रि)मिः पदार्थव्या(वर्मा)सं अगमिति । विविधेन धेमिर्भवति । तत्र वातु प्रथमो जीवपदार्थः । स च द्विविधो इत्यन्ते जीवो [जी]गतवचनमेति ॥ १८ ॥

जीवे दिद्वे जीवं, जीवावयवं च तत्थ नायवं ।

पुणरवि उत्तरसहिण्, पण्हे जीवं हवे नियमा ॥ ६९ ॥

जीवाक्षरेष्वनमिहतेषु [प० ४३, पा० २] जीव इत्यादेश्यम् । तेष्वेवाभिहतेषु जीवावयवो
वक्ष्यः । पुनरप्युत्तरस्वरैरक्षरैर्वा बहुले प्रभे जीवेनैव तिसस(निस्सश)वं भवितव्यम् ॥ ६९ ॥

अहरसहिण् उ पयो(ण्हे), जीवं वावयवं नु(१ तु) मुणिजांसु ।

जीवे लद्धमि पुणो, दुवय-अपदाहि(इ)पभेदा [य] ॥ ७० ॥

अधराहुतो (अधरसहिते?) प्रभे जीवावयव(वं) जानीहि । जीवयो नो लब्धायां द्विपद-
चतुष्पदापदादसकुला भेदा वक्ष्यमाणाश्चिन्त्याः ॥ ७० ॥

लोमाणि तथा रुहिरं, मेदो मंस-द्वि-मज्ज-सुक्काइ ।

जीवावयवा [य] पदे, जीवा सिद्धा असिद्धा य ॥ ७१ ॥

रोमाणि त्वग् रुधिर मंस मेदोऽस्यि [प० ४४, पा० १] मज्जाशुक्राम्य(ण्य)ष्टावेति जीवाव-
यवाः । जीवाः सिद्धा असिद्धाश्च द्विविधा भण्यन्ते ॥ ७१ ॥

सिद्धा एगवियप्पा, [अ]सिद्ध संसारिणो चउवियप्पा ।

दुपया चउप्पयावि य, अपया पयसंकुला चैव ॥ ७२ ॥

तत्र सिद्धा एकभेदाः संसारविनिर्मुक्ताः । असिद्धाः संसारिणः । ते चतु [र्विकल्पाः] ।
चतुरो भेदान्ना(ना)ह-द्वैवगतिः, मनुष्यगतिः, तिर्यग्गतिः, नारकगतिश्चेति । द्विपद-चतुष्पद-
अपदाः [पद]सकुलाश्चेत्यमरचक्रमेभेदा (श्चेत्यपरचतुर्भेदाः) ॥ ७२ ॥

दुपया माणुस्स(स)देवा, पक्खी तह नारया मुण्येयवा ।

मणुया हु चउवियप्पा, णायवा पण्हइच्चेहि ॥ ७३ ॥

द्विपदा मानुप(पाः) देवाः [प० ४४, पा० २] पक्षिणो नारकाश्चेति वक्तव्याः । मनुजाश्चतु-
र्भेदाः ॥ ७३ ॥

तेपामन्यगाथया चतुरो भेदा[न्] वक्ष्यति -

पढमो ह वंभणाणं, वीओ वग्गो य हवइ वेसाणं ।

तइओ [य] खत्तियाणं, सेसा दो होंति सुद्दाणं ॥ ७४ ॥

प्रथमो वर्गः. 'क च ट ट प य सा (शा)' इति ब्राह्मणाः (ना) ज्ञेयाः (य*) । द्वितीयो वर्गः 25
'ख छ ठ थ फ र पा' इति भवति वेस्सा(वेइया)नाम् । तृतीयवर्गा(र्गः) 'ग ज ङ ढ व ल सा' क्षत्रिया-
णाम् । चतुर्थो वर्गः 'घ ङ ढ घ म व हा' [प० ४५, पा० १] शूद्राणाम् । 'ह ञ ण न मा' पञ्चमो
वर्गः [ः] शं(स)करजातीनाम् ॥ ७४ ॥

दुविहा एते णेया, इत्थी पुरिसा पुणो वि ते विव(तिवि)हा ।

वाला तरुणा थेरा, उच्चम-मज्जा-धमा तिविहा ॥ ७५ ॥ ।

ये एते चतुर्विधा प्राज्ञाचार्य ऋषयः तेष्वेव पूर्वोक्तवर्गेषु प्रथमो कर्मात्परीचरवर्गो(री)श्च
 पुनान् ज्ञेयाः । द्वितीय-चतुर्वर्गो(री) वीर्यवर्गः । प्रथमो वर्गो तदुत्सर्गः । तत्र पुनोत्पत्ति(वि)विधो
 बाह्य-दरण-कारि इति । धोर्दि(१ २५, ४ १) इति त्रिविधा बाह्या दहणी कारिता चेति । तदुत्सर्ग-
 मिति(मपि) त्रिविधमेव बाह्य दहनं कारिरे चेति । श्री-मु- [तु] मन्त्रान्तेतानि प्रसक्तं त्रिविधान्तुत्तम
 मध्यमावसथैव इत्यभ्यासि । विवेकमेव बह्म(इय)मात्मभूतगावया वर्धयिष्यति ॥ ७५ ॥

तद् चैव कम्मम्मा(भू)मा, अकम्ममूमा य अन्तरवी(ही)या ।

एवै कमेण सधे, सणामणिये(हि)सठ(ओ) जाण ॥ ७६ ॥

तथा धैक(भं) कर्ममूमा । वेदाः प्रथमवर्गाश्चराः, अन्तरवीर्यवर्गोत्पत्ताः । कर्ममूमो मनुष्या
 मवन्ति । अन्तरवीर्यवर्गाश्च 'आ ई ऊ' । [१ २६ च १] एतेऽप्यव[वा] कथा अपि स्रुत्याः पुनर-
 ऋषयः । तृतीयवर्गाश्चराः अन्तरवीर्यवर्गोत्पत्ता अकर्ममूमयो मवन्ति वेदाः । एषां कर्ममूमिभानां
 अकर्ममूमिभानां बोधि[ः] लमाव[ः] वेदा च वर्नाठतिः प्रमावमिति वक्तव्यासि । अन्तरवी(ही)याव
 बद्रपचास(अ)र्ता एतेऽहकारिणां प्रपञ्चो नेवर्णा(उनेकवा) । तेषां च लज्जमभिरैशा[तु] परिज्जम
 कर्त्तव्या(अ)मिति ॥ ७६ ॥

॥ जीवसमा[स]प्रकरण समाप्तम् ॥

धातुस्तरा सहस्ता, कणादिवम्गाणुरासिया वुपए ।

धीओ वसमो य सरो, चठप्पए साहवग्गो य ॥ ७७ ॥

प्रथमे प्रथम-[१ २६ च १] तृतीय-वर्ग-वर्गाश्चराः (अ)वि(अ)के प्रथम-तृतीय-मध्यमवर्गाश्च-
 येवाश्चरा एकस्मिन् अकारेण धातुस्तरैश्च इत्येव पुन्यो(अ)ः तेषामेवात्मवसमाप्रयो बाह्यअन्तरम-
 वन्ति एव द्विवर्गीयवित्त्वा निशेषा । प्रथमे द्वितीयवर्गाश्चरावृत्ते द्वितीय आकारे एवम
 औचरो(र)चरोरन्वतरेण द्वितीयवर्गाश्चरेषु कुत्तेषु द्यम्बा वा चतुष्पदवित्त्वा विज्ञातव्या ॥ ७७ ॥

अपयाण मज्ज द्या ससु, पयाकुल्लयाण(ल्लाण च) म म ब हा चठरो ।

चठरकुमधारसमा, [१ २७ च १] सता य वोप्पमि सामण्णा ॥ ७८ ॥

ब ह ह वृत्ते प्रथमे ईकारे ऐकारे अकारेण च सविधेर्जन एमित्पत्ति(वि)मिः लीरुतेषु ।
 एषां चान्तवत्ताश्चरान्तराप्रमन्वत्तत्तायन्वत्तयोऽप्रयोऽन्वत्तव्यवन्ति एषया ज्ञेयाः ।
 ब म ब ह आत्वात् एतेरेव लीरुतेषुऽन्वत्तयोः पूर्वोक्ता(अ)न्वत्तेन पावर्त्तव्याः मन्तिने ज्ञेया
 इति ॥ ७८ ॥

जह् पठम-तद्दय-मज्जम-वमो पण्हकस्तराह वीसंति ।

तो तुपय-जीवचित्ता, चठप्पयाण पि [धि]चठट्ये ॥ ७९ ॥

अन्व[१ २७, ४ १] [रु]पि परिवास्या अन्वमपि विद्विद्विद्येवमविद्विद्येऽन्वते-प्रथमवर्गाश्च
 तृतीयवर्गाश्च वज्जमवर्गश्च च लम्बवित्तेन वदा प्रमादत्त बाह्यत्वेन दहन्ते एषा द्विवर्गीय
 चित्ता ज्ञातव्या । द्विवर्गाश्चराणां बाह्यत्वे चतुष्पदा ज्ञेया[ः] ॥ ७९ ॥

भवणवद्-वाणवंतर-जोइस-वेमाणिया तथा देवा ।

तेसि दस अद्द पंच य, व(वा)रस णव पंच य वियप्पा ॥ ८० ॥

दश प्रकारा भवनवासिनः, तद्यथा - असुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णा-ऽग्नि-चात-स्तनितो-ऽग्नि-द्वीप-दिक्कुमाराः । अष्ट प्रकारा व्यन्तराः - किंनर-किंपुरुष- [५० ४८, ५० १] महोरगा(ग)-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशांचाः । पञ्च भेदा ज्योतिष्काः - सूर्य-चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च । १५
वैमानिका अनेकप्रकाराः - सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ऋषालोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रार-आणत-प्राणत-आरण-अच्युवाद्या द्वादशकल्पोपपन्नकाः । अपरे नवभेदेयकाः - अधोमध्यमोपरि-विभागस्थाः । तथाऽनुत्तरविमानवासिनः पञ्चप्रकाराः - विजय-वैजयन्त-जयन्ता-पराजिताः सर्वार्थ-सिद्धसंज्ञाः । एते स्वभावनिर्देशतो विज्ञातव्याः ॥ ८० ॥

सिद्धाण आदिवग्गो, देवाणं होंति तिण्णि वग्गाओ(उ) । ११

दो चैव मानुषा(णुसा)णं, [५० ४८, ५० २] सेसा तिरियास(ण) वग्गा हु ॥ ८१ ॥

लोकप्रै व्यवस्थिताः सिद्धा अशेषविमुक्ताश्च अकारवहुले प्रभे । [क च ट वहुले प्रभे ?]
वैमानिका देवा ज्ञेयाः । त प वहुले प्रभे मनुष्या ज्ञातव्याः । य श वहुले प्रभे उक्कघ्राति(स्ति)र्य-
ग्गतयो ज्ञेयाः ॥ ८१ ॥

दुपयक्खरेसु दिट्ठे, सब्बे दुपयक्खरा मणुस्साणं । १५

जे पुण चउप्पयाणं, ते नियमा होंति देवाणं ॥ ८२ ॥

द्विपदाक्षराः । के ते ? प्रथम-द्वितीय-पञ्चमवर्गाक्षराः । एतद्वहुले प्रभे मनुष्या
द्रष्टव्याः । अकर्मभूमिकान्तरद्वीपकाश्च । चतुर्थ्यु [५० ४९, ५० १] वर्त्ता(र्गी ?) याश्चातुष्पदाक्षराः,
ते (तैः ?) उत्तरस्वरयुक्तैर्भवनपतिव्यन्तरा ज्ञेया इति ॥ ८२ ॥

अपदाणं जो गमओ, सो चैव य होंति नारयाणं पि । २०

वहुपायाणं तइओ, सर(सा)वयवो होइ पक्खीणं ॥ ८३ ॥

अपदाक्षरा घृष्ट पूर्वोक्ताः । द्विपद-योनी लघ्वाया ध न च हा नामत्यवसोय(?) त्वाभि-
व्यञ्जको भवति । तदा पक्षमे(क्षिणो?) सत्त्वा भवन्ति ॥ ८३ ॥

मणुअक्खरेसु मणुआ, इत्थीए सेसएसु नायवा ।

हस्स[स्स]रा य णिद्धा, सेसा ल(लु)क्ख्वा सरा सब्बे ॥ ८४ ॥ २५

मनुष्याक्षरा प्रागुक्ताः । विशेषोप [५० ४९, ५० २] दर्शनार्थं पुनरुपन्यासः । प्रभे मनु-
जाक्षरवहुले मनुजा ज्ञेयाः । के ते मनुजाक्षरा ? । प्रथम-द्वितीयवर्गप्रतिवद्धाः । द्वितीयवर्गाक्षर-
वहुले प्रभे स्त्री ज्ञातव्या । ऋषस्वरा, के ते ? अ इ ए एते पञ्च(?) स्त्रियाः । एतद्वहुले प्रभे
पुरुषा [जा]दिश्या । शेषा दीर्घाः सप्त स्वराः । एतद्वहुले प्रभे स्त्रिया(यो) वक्तव्याः ॥ ८४ ॥

खरुव(घ ?) मादिणो य वग्गा, पंच य अणुणासिया भवे लुक्खा । ३१

णिद्धा कगादिवग्गा, तत्थ य कज्जं तु सयणगया(?) यं ॥ ८५ ॥

द्वितीय-बहुर्ग-पञ्चम-वर्गे एव बभौ वर्गा इक्ष्मा(इक्ष्माः) । प्रथम-द्वितीयवर्गौ[शिखी] ।
शिखीवर्गोऽक्षरबहुले प्रथम स-अन्तसन्ध्याये कृते काच इत्यम् । इक्ष्माक्षरबहुले प्रथमे पर-अवसंस्थे
एव कार्यं ब्रह्मम् ॥ ८५ ॥ एतेवाह—

परजणकर्यं [१ ५ १] च कर्त्तव्यं, मुणेह सभं लुक्कण्युसं(मस्वरेसु) पि(ति) ।

मिस्ते पममासहियं, कञ्च तह [पुत्त]मडक्य ॥ ८६ ॥

इक्ष्माक्षरबहुले प्रथम पर-अवसंस्थे कार्यम् । शिखीइक्ष्माक्षरबहु[ले] प्रथम प्रयासंयोगे कार्यं
पुत्रकार्यं च ज्ञातव्यम् ॥ ८६ ॥

पत्रमस्वरेसु धाला, मञ्जेसु य जोडणमि धट्टंता ।

अतिगपसु अ थेरा, जीवा पण्हेसु णायथा ॥ ८७ ॥

प्रथमवर्गोऽक्षरबहुले प्रथमे बाळा[ः], पुत्रा(भार) धी मनुसंके च मवति । द्वितीयवर्गोऽक्षरे
एवबिहतेषु एषु इक्ष्मण्येव धी-मु-मनुसंक्रमि सपौत्रमप्यनेस्या(इवा)मि । प्रथमवर्गोऽक्षर(रे)व-
बिहतेषु एषु व(ह)द्यामि ब्रह्म्यामि । द्वितीय बहुर्गवर्गवर्गविके एषु एतान्येव मप्यमवसाय-
देरपमि ॥ ८७ ॥

सामा कण्ठस्सामा, गीरी णीला य रत्तसामाचैव(भा य ?) ।

एव पच [१ ५ १] वि बग्गा, कमसो पण्हमि य विमथा ॥ ८८ ॥

प्रथमवर्गः का(इक्ष्मा)मः । द्वितीयो वर्गः कृष्णवामः । तृतीयो वर्गो तीर । बहुर्गो
वर्ग(गो) नीलः । पञ्चमो रत्तवामः । एवं पञ्चाज्येते वर्गाः क्रमसं(हा) प्रविमथाः । ए[वि]र्ग
मध्ये देवा [वर्जाला] शकुलं मवति तेः वर्जा(र्व)मिर्देरप(हा) कार्यः ॥ ८८ ॥

जारिसय(थे) परपक्कज, संजुत्ता तारिसा तहिं सामा ।

हीणा समाऽहिया धा, सेसा परपक्कजसजुत्ता ॥ ८९ ॥

बाहसः परपक्कः । कोऽसौ परपक्कः । इक्ष्मिहत्वा मण्व[वि] । तस्यामिहत्तुः पाहस्य
रुक्सा(अक्षर)मार[१ ५ १]मो वर्णो वेऽमिहत्तु[ः] ताहत्ता(धा)ले हेवाः । हीना(धा)
समा [अ]भिवच(का) वा ते वयात्(वि)विधाः । वत्र हीना आसिद्धिदा, समा अभिवृत्तिदा,
अधिदा इत्याः । परपक्कमहेन च पूर्वोभिहत्वा जातिगिला [अ]भिवृत्तिदा इत्याः ॥ ८९ ॥

॥ मनुष्यप्रकरणं समाप्तम् ॥

पक्खी दिट्ठे सत्तमसरे य धम्मो य पट्टमप् जलया ।

दत्तमसरे य कवग्गे, धलया पल्ली(कवी) हु णायथा ॥ ९ ॥

सत्तमसरा एधत्तः । प्रथमवर्गो अक्षर(ः), दन्त्यामि(अन्त्यामि)के प्रथम जीवरोही
प्रामथे(अथे) अर्त्त[१ ५ १]तः वली हेवा । दत्तमसरे जीवराय कवर्गवहेन कथाय
केचन कथयत । जीवराय कथारन्तेरिगडो-इभोवा-नन्तरवस्थिते जीवरोही कथारत्तं कथया
वक्षिणे हेवा ॥ ९ ॥

नवमसरे वग्गंमि, तद्दुँ पक्खिणो तथा जलया ।

थलया वारस अट्टम, सरे चउत्थे टवग्गंमि ॥ ९१ ॥

नवमस्वर उ(ओ)फारस्वतीयवर्गचकारण्योपरिगतोऽप्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते जलजा-
पक्षिणो ज्ञेयाः । द्वादशमस्वरः अकारः सविसर्गः, अष्टमस्वरः णकारश्चतुर्थवर्गः टकारः । टकारेण
च स्थलजाः पक्षिणो ज्ञेयाः पूर्वाचन्यायेनेति ॥ ९१ ॥

अणुणा[५० ५२, ५० २]सिएसु पंचसु, तीसु य धाउस्सरेसु णायवा ।

पक्खीओ कुक्किआ खलु, वायसगिद्धा थ चडया थ ॥ ९२ ॥

इ व ण न म बहुले प्रभ्रे एपामन्यतमे धातुस्वराक्रयोऽन्यतमयुक्ते जीवयोनी लब्धे पक्षिणो
ग(र्हि)ता[०] भा(चा)सादयश्चट्फा गृथा वायसाश्च ज्ञेयाः । धातुस्वराः के? उ ऊ अ इलेते त्रयः ॥ ९२ ॥

॥ सप्रपञ्चं पक्षिप्रकरणं समाप्तम् ॥

स(सिं)गी कचाइवग्गे, गजा[इ]वग्गे चउप्पया ख(खु)रिणो ।

दुस्स[र]सरा हु सवे, सिंगीखुरीण तु सामण्णा ॥ ९३ ॥

ककारस्य चकारण्योपरिमतो(गते)न चतुर्णां ऋस्वस्वराणामन्यतमेन तयोरेव ककार-चकार-
योरप्रतोवाऽवस्थितेन, ना [५० ५३, ५० १] नरा[ः] शृंगिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । के ते ऋस्वस्वराः ?
अ इ उ ए । अधरस्वरेण ऐकारेण औकारेण च युक्तस्य ककारस्य च व(च?)कारस्य वा तवो(तो)-
ऽर्वाक् स्थितयोः एकारौकारयो आरण्याः शृंगिणो ज्ञेयाः । गकारस्य जकारस्योपरिगतो ऋस्वस्वरा-
णामन्यतमेग(न) तयोरेव गकार-जकारयोरस(म)तो वाऽवस्थिते खुरिणच(श्च)तुष्पदा ज्ञेयाः । गकारे
जकारे वा अधरस्वरसयुक्ते खुरिणश्चतुष्पदा ज्ञेयाः । गाथयाऽनुक्तमप्येत[द्] व्याख्यातम् ॥ ९३ ॥

वितिउ(ओ) दसमो य सरो, खळादिवग्गंमि चैव दंतीओ ।

अणुणासिएसु पंचसु, णहिणो धातुस्सरेसुं च ॥ ९४ ॥

द्वितीय [५० ५३, ५० २] आकारः, ऊ(औ)कारो दशमः, सकार-उ(छ)फारस्योपरि गतस्त-
योरेव ख-ञ्चयोरप्रतो वा व्यवस्थिते आकारे औकारे वा ढन्तिनो ज्ञेयाः । इ व ण न मे सु(षु)
पञ्चसु धातुस्वरयुक्तेषु इ व ण न मा ना वाऽप्रतोऽनन्तरमवस्थितेषु नरिणो(नो) ज्ञेयाः । धातु-
स्वराः उ ऊ अ ॥ ९४ ॥

घ झ ढे सु होइ दाढी, दंती तह वस(ध न) व हे सु णायवा ।

चउरट्टमबारसमस(स्स)रो य दोण्हं पि सामन्ना ॥ ९५ ॥

घ झ ढा नासुपरिगते इ(ई)कारे [५० ५४, ५० १] ण(ऐ)कारे सविसर्गे च(अ)कारे घ झ ढा
ना मप्रस्थितेषु वा ईकारादिषु वट्ठि(ट्टि)णः सूकरादयो द्रष्टव्याः । ध न व हा नासुपरिगते(तै)सैरेव
समि(म)स्वरैरप्रतो वा व्यवस्थितैर्दन्तिनो द्रष्टव्याः । के त्रयः स्वराः ? ई ऐ अः ॥ ९५ ॥

दिष्टे चठप्पयमि य, पण्हे जय धीसए उवरि मत्ता ।

तो सिंगिणो ह मणिया, खुरिणो अह मत्तया होत्ति ॥ १६ ॥

गेर्बिकाऽऽहीरप्यविकः जीवावयव एव गद्यवा अनुच्छेदप्रि इहम्वाः । [१ ५४ च १]
 * धीगिणु सिङ्गेणु भरुसुणमिम्पञ्चको म(ठ)हिक्को ज्ञेयाः । अनुप्यवोने उप्पे पणोपरियात्तावुत्सं
 * इरवते वरा सुगिणो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव अनुप्यवोने उप्पे पया अपोमावापानुत्सं इरप्ये
 वरा सुरियो ज्ञेयाः । तस्मिन्नेव अनुप्यवोने उप्पे वकारवावुत्सं सुरियो ज्ञेयाः । इ(बी)कार-
 वरवोसुत्सवोव(ठ)परिगतक साम(सर्प)ोनेतिः । इ(बी)कारवो(सो)परित्तिवक मत्तिवो(तो)
 ज्ञेयाः । [१ ५५ च १] उत्रोत्तरेवावरेण उहेतोत्तमं मत्तिं सुरियं वा उप्पयेत् । अवरेणावर्त्त-
 (वर्म)ित्तिं सुरियं वा उप्पयेत् ॥ १६ ॥

॥ अनुप्यवप्रकरणं समाप्तम् ॥

सिंससा(मा ?) किण्हावी, हत्ति(वन्ति)समा राह्ला(नायरा?) मुण्येयवा ।

सेसा तिण्णि वि वग्गा, वण्णत्तरियाण सप्पाणं ॥ १७ ॥

येषु सुगिणोऽसिंहवालोप्येवाहप्यनोर इहम्वाः । उवररुर्जागता, अवररुर्जागता ।
 * येषु वन्तिनोऽसिंहवालोप्येव विवह(?) इहम्वाः । येषां वोवकारेणा(?) [१ ५५ च १] परि(अव)ि-
 * पिडायां भवद्वात्तं वाहुत्स्ये वण्णत्तरियो(का) विरकारवाः सर्पा इहम्वाः । उप्पयात्सं
 * अपरेषु च उप्पेणु एवविदिष्टो वाप्य इति ॥ १७ ॥

॥ जीवधिमत्ता समाप्ता ॥

अथ सत्थ घाठधिसा, सा खुविहा होइ आणुपुवीए ।

धम्मा[ऽ]धम्मा [य] तहा, धम्म(म्मा) लोह अलोहं च ॥ १८ ॥

* वाहुधिमत्ता द्विविधा भवतामुत्सं वात्ता [अवत्ता] च । उत्र वात्ता उहेत्तया,
 * अवत्ता मुत्तप्रवात्तविद्यया ॥ १८ ॥

कच्चणरयय तंमं, तठ सीसं आर कस लोह च ।

लोहं अहुवियप्यं, प्य(प)धाप्य तह अप(प)हाणं च ॥ १९ ॥

वात्तं, रवत्तं (रवत्), [१ ५६ च १] वात्तं वत्तु, सीसं=सीसं, आर=आ(र)य
 * रीरिक्क वत्तं कोई वा कंसं कच्चणोत्तमि(रुमि)अप्पयेत् । उवत्त[वत्त]वत्तुके मने उहेत्तुत्तं
 * सुवत्तं ज्ञेयम् । अह(व)त्तवत्तुके मने उहेत्तवत्तं वत्तु-सीसक-कच्चणोत्तमि ॥ १९ ॥

इहा य मट्टिया सक्करा य धम्मा इमे य लोहा य ।

रयणा य पत्थरा पुत्थवि मट्टिया चेव णो धम्मा ॥ १० ॥

दृष्टका स्थूरकर्परा, [मृत्तिका], स(श)र्कराश्च धाम्याः । त्रीण्येतान्यपि । लोहामि(नि) ।
रत्नाति(नि) पाषाणा[ः], पृथ्वीवि(वी), मृत्तिका चावाम्या धातवश्चत्वारः ॥ १०० ॥

रयणा य इदं नीला, मरगय तह वैरुलीयजाजी(ती)या ।

अयकंत-सूरकंता, [५० ५६, पा० २] चंदकंता य नायवा ॥ १०१ ॥

इन्द्रनील-महानील-मरक्त-वैडूर्याः, अयस्कन्ताः, सूर्यकन्ताः, चन्द्रकन्ता च(श्च) रत्न-
विशेषा ज्ञेयाः ॥ १०१ ॥

मोत्तिय-पवाल्माई, भवंति एवंविहा [तहा] अन्ने ।

ते रसा(सा)रा णिस्सार(रा), य होंति पुण संखमादीया ॥ १०२ ॥

मौक्तिक-प्रवालाः । एवविधा[ः] तथाऽन्ये सद्भादतिथो (पि शंखादयो) विमलकाराव्य[ः]
ते सारा असार(रा)श्च । तत्रोत्तराक्षरबहुले प्रभे धातुयोनौ लब्धे ससारा मुक्ता-प्रवालादयो ॥
ज्ञेयाः । अधराक्षरबहुले प्रभे निःसारा विमल-सख(शङ्ख)-मु(शु)क्ति-कपर्दकप्रभृतयः ॥ १०२ ॥

सीय-दहाय [स]मुदा(द्वा), णदी तडागा [५० ५७, पा० १] तहेव पम्मघ(स्सव)णा ।

एकेकं तं दुविहं, थिरं चलं चेय नायवं ॥ १०३ ॥

सीतजला(शीतहृदा)नि समुद्रा नदी तटाकानि प्रश्न(क्ष)वणमेकैकम् । तेषां द्विविधं—
स्थिरं चल चेति । तत्र स्थिरमवहमशोश(षं) चोत्तराक्षरैः द्रष्टव्यम् । यद्वा वहति शृण्यति च तषल-
सधराक्षरैर्द्रष्टव्यम् । नामाक्षरलावे(षे)न वरतु-विचार-स्थानं सन्निषेसा(वेशा)दि ज्ञेयम् ॥ १०३ ॥

उण्हंगारा तह मोमुणा(मुम्मुरा) य अण्णा य एवमाईया ।

उक्का विज्जा(ञ्जू) अव(स)णी णिग्घाउ(ओ) सूरकंताउ ॥ १०४ ॥

उण्णा[ङ्]गाराश्च मुमु(सुँ)रग्रहणेन कृकूलमुच्यते । एतौ च धाम्यधातुसङ्घौ वाक्या-
क्षरैर्ज्ञाता[५० ५७, पा० २]व्यौ । उक्का विद्युदशति(निः) निर्घातः सूर्यकान्त पञ्चैते अधाम्यधातु-
सब्धाः । वाक्याक्षरो(र)नामतो ज्ञेयाः ॥ १०४ ॥

एसा(गा?) पत्थरजी(जाई), से(सा) सवियप्पा पघाण अप्प(प)हाणा ।

सा परिकमि(म्मि)[य अ]परा, णाअघं(वं) जं जाहँ कमइ ॥ १०५ ॥

पापाणजातिसामान्यादेका पापाणजातिः । सा द्विभेदा भवति । प्रधाना अप्रधानाश्च
(च) । तत्र उत्तराक्षर(रैः) परिकर्म(मिँ)ता पापाणअतिद्र(जातिर्द्र)ष्टव्या । अप्रधानाश्च (च) ॥
अधराक्षरैः अपरिकर्म(मिँ)तपापाणजातिर्द्र(द्र)ष्टव्या । [५० ५८, पा० १] अप्रधाना च । यथायोगं व-
स्तु(स्तू)पलंभः कार्यः खनामनि । परिकर्मिता [ट]कषटिवा । देशवश्च विज्ञातव्या अवत्याद्या भारता[ः]
क्षेत्राः । द्रोणमुखाः, के ? यत्रागम्य यानपात्रान(ण्य)वतिष्ठते(न्ते) ते देशा द्रोणमुखसङ्घाकराः
(सङ्घाकाः?) । खेटकाः, के ? उच्चप्रदेशबहुले भूमौ यो निवसते जनपदः स खेटकसङ्घः । पृथिव्या
पते भेदा भवन्ति । व्याख्यामि मृत्तिकाभेदमिति वक्ष्यमाणोपन्यासः ॥ १०५ ॥

हरियालमम्मपडलं, [१ ५८ ५ १] मणसि(स्ति)न्ना पारय च घोषह ।

तह ब(चु)ष्णपारदो वि य, मद्दु(ट्टि)भमेदा मुणेयवा ॥ १०६ ॥

हरियाश्रम आभ्ररड(र)डम् मन-मि(त्रि)डा, पारय(र), चूर्णपार(र) । घृष्टिभमेदा पड । तत्र चूर्णार(र) इति द्वितीयपार[र]मति चूर्णार इत्यम् ॥ १०६ ॥

पफन्त्तरेहि ण्ते, णायदा जे जहा समुदि(हि)त्ता ।

अधोत्तरक(क)मण घ, सणामनिहो(ह)मतो याचि ॥ १०७ ॥

प्रभाभरैरेतपयोष्य भेदा विज्ञया । यथा(वा) एषां प्रबन्ध(काऽ)वधाना इतरावर क्रमेण जेवा । पावत्तनामनिरेह इति ॥ १०७ ॥

स्व छ ठ थ का घ झ [त्रा] वि य, विट्ठे घाठमि होइ घम्माओ ।

अहुक्म्वरा हु एते, सेसमघम्मव(स्त्र)रा सवे ॥ १०८ ॥

त छ ठ थ का (क) घ झ हा मानेपा[मघा]नां वाहुस्त्रेव वाहुचोनी छम्पाचं वाहु(र)ड-
व्वा(म्वा) वाण्यः । येपाड [१ ५८ १] एवममवडा इत्यत पद् एण्ते । वा(वा)स्त्रेव
वाहुचोनी छम्पाचं एतं वणां वाहुस्त्रेव वाहुवाम्य आरिहव इति ॥ १०८ ॥

पदमकारवररस(असवार)समसरे य कणयं तु कम्बगपेसु च ।

पथहुमयसरेसुं, पदमेऽणुणासिए य तठ ॥ १०९ ॥

वड(मव)मलर वाडर, प्कररल्लरा वाडाठ साहुम्पाठ, वाडाठ सविचर(नी) ह्या
स(र)ल्लरा । एतहुकुळे प्रमे वाहुचोनी छम्पे कर्क जेवम् । कल्लगव(वा) प्राम्पवयओपरि
गलो(ठ)मेतेचाम्पमेव लरेय कल्लमेव जेवम् । ककय वा साम्पवयमासरेण पेकरेण कुळे
वाहुचोनी छम्पाचं प्रु जेवम् ॥ १०९ ॥

च छ ज झ य र ल व ए सु य, रयय वीयस(स्त्र)रसत्तमेसु च ।

अणुणासिए य वितीए, छट्ठे य सरै [१ ५८ ५ १] हवइ सीस ॥ ११० ॥

वड ज झ [व]र क वे पु च प्रमे वाहुकुळे (१) जेचयेचाम्पवमासरे द्वितीयल्लरेण छम्प-
ल्लरेण च कुळे वाहुचोनी छम्पाचं एव जेवम् । च छ ज झ [व]र क वे पु च [२] साम्पवयमास-
(२) वाहुळे प्रमे वाहुवासिडे च द्वितीये वाहुचोनी छम्पाचं व(ड)कारेण च कुळे एतं
के [१-५ ५ १] वम् ॥ ११० ॥

ट ठ ड ड ई करस्मि(म्मि) य, तव कंसं पुण तव दस(वि)सुं च ।

पफ व म णवमे य सरै, चट्ठथ अणुणासिए आर ॥ १११ ॥

ड ठ ड ड (वा)नामम्पवमासरेवाहुळे प्रम वाहुचोनी छम्पाचं वाव(वा)-
मादेवम् । तवा इतो(१) तव दवा नां वज्जाचं वाहुळे प्रमे वड व वा नां वाडम्पवमासरे
[१ ५ ५ १] वाहुचोनी छम्पे कंसमादेवम् । व(प) च व य इत्यतं वज्जावावम्पवमासरे
वाहुळे प्रमे वेचयेचाम्पवमासरेण मवयल्लरेण व(वा)कारेण कुळ वाहुचोनी छम्पे
वाहुचोर् वा ॥ १११ ॥

पशामरत्वमयाःकापिकमौपरिक[१ ११ व १]दिक् च । व[र] द्विविधमुत्तम् । प्रत्युह(म)म
प्रत्युह च । वदेकेकं पुनः द्विविधम् । प्रत्युहमिति संकिञ्चमभिधोक्तिञ्च कठकापामरत्वमुत्तम् ।
पूर्वोत्तमेमौपिकापिकमरत्वमुत्तमे प्रमे प्राप्नुत्तन्वायेनेव प्रत्युहं शेषम् ॥ ११७ ॥

उवरि[य]णवण(ण)सहिया, उट्टा(दट्टा) मचाठ जा य धीसति ।

आमरणं जाणिञ्जा, उवरि शा(स)रीरमि देहि(ही)णं ॥ ११८ ॥

प्रभाषणार्थां उपरि इवभाषा एवमन्ते एवाऽऽमरत्वमवगच्छ उपरि कपीरक इव
श्रुतामिति ॥ ११८ ॥

अहराओ अहरेसु, मचाओ जारिसाओ तारिसयं । [१ ११ व १]

सं(सं) ठाणं [प]ण्हमि य, चाठविसेसेण नायह ॥ ११९ ॥

अथपकिञ्चरुप्रमे अवाकापिकमामरत्वं शेषम् । कठकापिकमरत्वमुत्तमे उपरिकापिकमा-
मरत्वं शेषम् । अवाकापिकमरत्वमुत्तमे अवाकापिकमामरत्वम्, तिर्यम्यावापिकप्रमे तिर्यमाये वं
(उं)कते शेषः । कर्कसावापिके प्रमे कपीरमोर्कमागे शेषं चाटुविसेसेवेति ॥ ११९ ॥

दिट्ठे मणिमि पञ्चोवियम्मि जीतव(जाती य?) हो[इ] इतर वा ।

जासीए माणिह, पत्या १-१४ व १ मजाती विजासीए ॥ १२० ॥

द्वेर्ममिधिः मयु(सु)मे पूर्वम्यपेनेव देरुहरीः साठ वच्य मुच्छरवो यववाः वैः साठ
मयिमयु(सु)मनामरत्वं शेषम् । वैश्च नि(मिः)साठ विपककाएय कटासीः मने एवे(है)र्मिः
सरि[ः] मयु(सु)मनामरत्वं शेषम् ॥ १२० ॥

तम्मिसा(तं) पि य खा)यमलय(साय), अं तत्प[र]य पुणो वि व दुविहं ।

बुधया(ए) चठप्पए वा, दुपए पली(कली) मणुस्तो वा ॥ १२१ ॥

एवामरत्वं वि(वि)विचं काठमलात्तं वेति । काम्बचालकापिकमरत्वमुत्तमे [१ १४ व १]जीवा-
धररहिते अवाकामरत्वं शेषम् । जीवाधर कठे च काठमामरत्वं शेषम् । एव जीवाधरैः
पश्चिमे मनुवाच शेषः[ः] । चठप्परजीवाधरैरैती मकी मकी सुपी वा शेषः । पूर्वो(पी)धर
दे(मि)नेन पूर्वोत्तन्वायेव च ॥ १२१ ॥

दिट्ठे चठप्पये गामवासिणो रण्यवास्त(सि)णो श्वेव ।

वृती सिग्गी य सुरी, णही य दादी य वा होञ्जा ॥ १२२ ॥

एवे चठप्पयि के ते चठप्पवाः । द्विविधाः-गामवासिनेऽप्रत्युहवासिभ्यः । पूर्वोत्तमे
मकी मकी सुपी मकी मकी वेति पञ्चविधाः । पूर्वोत्तन्वायेन कैःक(सि)र[१-१५ व १]
कते शेषः ॥ १२२ ॥

पञ्चोविए वि दिट्ठे, जो गमठ(ओ) देवमाणुसामरणो ।

सो श्वेव य सविसेसो, णायवो भायप्पेसु पि ॥ १२३ ॥

प्रत्युहोऽपि एवे देरुहरीरैवात्तं मनुवाचां वा आमरत्वमि एवमि देरुवाकते प्रमे एवे
आमरत्वमि शेषमि । इमापकैर्य हेममि क्वमि शेषमि । देरुहरीरैवात्तं बोद्धव्यमि ॥ १२३ ॥

धाउस्सराणुणासी, छिद्वा णिद्धि(च्छि)द्द सेसया वण्णा ।

छिद्देषु जाण छिद्दे, णि(मि?)स्सेसु य खुम्मियं दी(द)वं ॥ १२४ ॥

धातुस्वरौ द्वौ उकारो(र-ऊ) कारौ, इ अ ण न माः पञ्चानुनासिकाः, छिद्वा[ः] । प्रथम[१०६५, पा० २] कारौः कृतीयवर्गान्या(न्या?) यागाधेया(यरलवा?) वक्का(र्णा?) नि(ट्टि?)द्वा ये च द्रष्टव्या[ः] । द्वितीय-चतुर्थवर्गौ निछिद्रो(द्री) द्रष्टव्यौ । छिद्वाक्षरवहुले प्रभे छिद्दे(द्रो) धातुरादेश्यः । घना- ५ क्षरवहुले घन(नः), छिद्वाछिद्देषु मिश्रेषु दृष्टेषु ख्यमितं धातु द्रव्यमादेश्यम् ॥ १२४ ॥

॥ धातुयोनिः समाप्तः(प्ता) ॥

रुखा(क्खा) ग(गु)च्छा गुम्मा, लया य वल्ली य पव्या चैव ।

तणा[१०६६, पा० १] जल्य-हरित-ओसहि-जलरुह-कुहणा भवे मूले ॥ १२५ ॥

घृक्ष-ग(गु)च्छ-लता-गुल्म-वल्मी(क्षी)-पर्वक-तृण-यलय-हरितौ-पधि-जलरुह-कुहणा इति ॥ मूलभेदा द्वादस(स) ॥ १२५ ॥

एगद्विय बहुवीया, रुक्खाणं चैव हौंति दो भेदा ।

सेसा वि ग(गु)च्छमादी, वण्णाण कमेण णायवा ॥ १२६ ॥

तत्रैकास्थि-बहुवीजाश्च द्विविधा घृक्षा भवन्ति । शेषा अपि [१०६६, पा० २] ग(गु)च्छाया घर्णाकारप्रमाणादिभिरनुक्रमेण ज्ञातव्या[ः] ॥ १२६ ॥

तय-मूल-कंद-साहा-पल्लव-फल-कुस(सु)ममेव णिज्जासो ।

रस-लीर-पसाहाओ, [य] मूलजाईअ(सु) भेयाई(?) ॥ १२७ ॥

त्वग्-मूल-स्कद(घ)-शाखा-पल्लव-फल-कुसुम-शीज-रस-भेदाश्च मूल-जातिषु विज्ञेयाः । को गुणभेदः ? । सुरभि[ः] [१०६७, पा० १] दुर्गंधिश्चेति । को वा रसनेवा (भेदः ?) मधुर-लवण-कटुक-कपायादिलक्षणः ॥ १२७ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्पयारा, कप्पास-करीर-पुप्फग(गु)च्छा य ।

गुम्मादिया य जाती-कुज्जय-कणवीर-वल्ली य ॥ १२८ ॥

ग(गु)च्छा बहुप्रकारा । के ते ? कप्पा(र्षा)स-करीर-पुप्फग(गु)च्छाय(श्च) । के पुप्फ-ग(गु)च्छा भण्यन्ते ? । ये पुप्फ केवल प्रय[१०६७, पा० २] च्छन्ति न व(च) फलं वंघन्ते । तत्र गुल्म(ल्मा) जाति(ती) कुज्जका कणवीर मल्लिका चेति ॥ १२८ ॥

चंपय-असोय-चूया, कुंदलयाओ व हौंति विविहाओ ।

तंवोल-लवल्लि-पिप्पलि-मिरिया वि य हौंति क(व)ल्लीओ ॥ १२९ ॥

चपकासो(शो)कचूवा लतासक्षकाः । कुदश्च लतासक्षः । तावो(ताम्बू)ल-पिप्पलि-मरी-चाया बल्याः(ह्ययः) ॥ १२९ ॥

दूर्वा(दुवा)कुसतृणवध्वपय(?)यवसालिकंगुगोधूमादीया ।

जलसंभवा य हरिया, गंधेणुयादि मुण्येयवा ॥ १३० ॥

पूर्वा-कुस(ठ)-दुब-अवकष(१)-बन-सा(घ)स्त्रि-कंगु-गोबूमाया दससंज्ञा[१] । अडसंमया
अपि दया एव । हरिवसंज्ञाय गंधेतुकाया ऐसिका ॥ १३० ॥

मलया साहा विडवा, दलकंदलसरलधम्मणा(मा)त्रीया ।

सिलमुगमापचणा[१ ६८ व १] या[इय ओ]सहिओ मुणेयवा ॥ १३१ ॥

वाजा(बड)य साजा म(१)पदक कंरड-सरड-धम्मयाया सिलमुगमापचवकषया जोप-
वचः ॥ १३१ ॥

पठम(मु)प्ललकुमुदाई, मे(सी)त्रालकमे(सी)श्या य जलपसुणा ।

मो(नाणा)विहा य अण्णा, सिंघा[ठ]गरलि(वड्ढि)यादीया ॥१३२॥

पयोत्पडुमुमसेवाडकसेकाः नमो(बान्वा)विषाम्भान्ने शृंगाडकवावाया अडवर
संज्ञकाः ॥ १३२ ॥

हो(हो)ति कुहणा अधीया, वसुभोर(भाए) समवा य जे अण्णे ।

तत्थ कुहणा अ(व) इयरे, भूमीरसकवली उच्छ ॥ १३३ ॥

अधीयाः माहण(द)अड आसण्णे वसुवा अओ(ठि) एवाण[र]रसं सुवंति वरसं(सो)
मवाउअका[१] इरअ[१], अपरेऽपि वराहलवो वे अण्णये अर(सुड्ढि)संज्ञा[१] कंरस्वओति ॥१३३॥

इज्जण-वेणुय-वेता-सरकडसयंगपन्नो हे(णे)या । [१ ६८ व १]

वारसविमास(भा य) मूला, कहिया जिणसासणमि सया ॥ १३४ ॥

इज्जणवेणुवकेअसरकंठिमंगाअ मडसास्त्रि(१) मण्णन्ते । एते वरगं(रंगी)संज्ञाः । वरंमि
परंणुलेओऽपते(गे)अ अण्णय इति परंगमा मण्णन्ते । इारस(वस)विवादि(मि) मूळमि(मि)
कवितमि मितसा(वा)ओ ॥ १३४ ॥

मूला कदा य तथा, साह म(प)वाला य तह य पत्तपल्लं ।

पुष्पाणि य [बीया]णि य, आमिज्जा ज जाई कमह ॥ १३५ ॥

मूळ-कंर-त्व[इ]-साप-अवाअ-अत्र-अड-पुण-बीया[मि] [१ ६८ व १] संजानीदि ।
तथाया तप(डु)प[रि]वाय(इ)स्वति ॥ १३५ ॥

मक्खलाऽमक्खला य पुणो, म[क्खा] तिचादिया य पंच[र]मा(सा) ।

गामारण्णा अल-अलय पहाणा अप्पहाणा य ॥ १३६ ॥

मक्खा म(अ)मवा(स्वा) विविवाले । तत्र मवा(स्व)तिअ(अ)कडुअकवावाअममुणा
अरसाः । मक्खा आरणाअय । पुवकि(डि)विवा अडवाः अडवाअय । मवाया [अमवावा]-
ओति ॥ १३६ ॥

पण्हक्खरेहि एते, णायवा ओ जहा समुदि(दि)हा ।

अपठसरक(क)मेण व, सणामणिवे(दि)सओ आभि ॥१३७॥ [१ ६८ व १]

वे ववा अण्णये तथा अण्णय(र)वडुले एते अनुमाअ[१] किण्वअवचम(१) सुवंमिमा
सुरवीमिपुअ इडमवा । अण्णयअवडुले एतेऽपि एवं पूर्वोअ अण्णयाअ वसुवा(रिवा)सुवंमा

नीरसाः ह्रस्वाश्च भवन्ति । तैरेव प्रश्नार्थैः[ः] ताव[ट्]क्षेया याव[ट्] नामति(नि) दृष्ट इति
[५०७०, पा० १] ॥ १३७ ॥

॥ मूलभेदाः समाप्ताः ॥

संजुक्ते फलभेदे, खाधण्णे रिक्खं(क्खरं?)मि णिप्पु(फ्फ)ला भणिया ।

उवरिह्णे उवरिह्णा, अधरा [अ]धरेसु नायत्वा ॥ १३८ ॥

सयुक्ताक्षरवहुले प्रश्ने सफला वृक्षा घातव्याः । के ते सयुक्ताक्षराः ? क्व च्छ ट्ठ थ्थ
फ्फ य् य् च्च ङ्ङ्ग ङ्ङ्ग व् व् ल् ल् इत्येते । [५०७०, पा० २] च्छट्टसत्तरं(श्च)तुर्मि(रि)रि(रेः) सफला
वृक्षाः । उवरिह्णे उवरिह्णैरुत्तराक्षरैरित्यर्थः । तैरक्षराणामुपरिगतेह(र्ह)ष्टै(र्षु)क्षादीनामुपरि-
भागे फल इत्यादेश्यः(श्चम्) । अधराक्षरैः उत्तराक्षराणामुपरिगते दृष्टे वृक्षादि(दी)नामधोभागे
फल वक्तव्यम् ॥ १३८ ॥

पठमे नवमे य सरे, क-चादिवगंगमि चैव रक्खाओ ।

वितिय-दसमे य सरे, लताओ ख छ ठ क्खरेसुं च ॥ १३९ ॥

ककार-चकारवहुले प्रश्ने [५०७१, पा० १] ककारस्य चकारस्योपरिगते अकारे उ(ओ?)कारे
वा अन्यतरस्याप्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते वृक्षा क्षेयाः । ख छ ठ घहुले प्रश्ने ख छ ठा नामेकस्मिन्
द्वितीयेन आकारेण कश्चिन्नामनेन औकारेण वा युक्तेऽप्रतोवाऽनन्तरमवस्थितानामन्यतरस्य लता[ः]
प्रत्येतव्याः ॥ १३९ ॥

थ फ र स एसुं वल्ली, तणं च धातुस्सराणुणासीया ।

चउरट्टमवारसमे, सरंमि ग(गु)च्छा य घ झ डे सुं ॥ १४० ॥

थ फ र स(प?) [५०७१, पा० २] वहुले प्रश्ने वल्ली । ड व ण न माक्षरवहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमे
धातुस्सरान्यतमयुक्ते तेषामेवान्यतमव्या(स्या)प्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते धातुस्वरे वृण क्षेयम् ।
धातुस्वराः उऊअ । घ झ ङ वहुले प्रश्ने घ झ ङा नामेकस्मिन्नुत्तर्य(र्थे)नाष्टमेन द्वावसे(शे)न
वा स्वरेण युक्ते घ झ ङा नामेकस्याप्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन ग(गु)च्छा क्षेयाः ॥ १४० ॥

गुम्मा य ध भ व हे सुं, ग ज डे वलया हु णवम-त्तइएसुं ।

सत्तमसरे तह ओ[सहीओ]भणिया द व [ल] से सुं ॥ १४१ ॥

घ स (भ) ङ ङ वहुले प्रश्ने गुम्मा भवति(न्ति) । ग ज ङ [५०७२, पा० १] वहुले प्रश्ने ग ज ङा
नामेकस्मिन्नावमस्वरेण औकारेण तृतीयेन उकारेण वा युक्तेन ग ज ङा ना त्रयाणामेकस्याप्रतो
वाऽनन्तरमवस्थितेन वलया क्षेयाः । वलयप्रहणे च ताल-खजू(जू)र-पूगफल-वृक्षादय उच्यन्ते ।
द्वलस वहुले प्रश्ने तेषामेवान्यतमेन सत्त[म]स्वरेण एकारेण युक्ते एतेषामेवान्यतम्य(म)-
स्याप्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन सत्त[म]स्वरेण औपधयः प्रत्येतव्याः ॥ १४१ ॥

॥ एवं मूलयोनिः समाप्ता ॥

भिषावमुद्रया(?) द्रव्यरूपसंज्ञाज्ञानं ज्ञात्वा शेषे प्रपंचधातु-धारयान्यविकल्पादिकः जीवोत्(वस्त)-
दवयवो वा द्विपदान्यतमस्य मूलं वृक्षगुच्छगुल्मलतादिकं पंचं सप्रपंचं विधाय शुश्रू तद्याऽऽ-
देशः कार्य इति ॥ १४६ ॥

॥ मुष्टिविभागप्रकरणं समाप्तम् ॥

दो दीह वट्टदीहा, वट्टो तंसो य वट्टदीहा वि ।

[अत्र आदर्शं तु 'वट्टो दीहो दि तसो य' एतदसौ द्वितीयपदसो भट्टपात्रो दृश्यते ।]

चतुरस्सो वि य वट्टो, [प० ७५, पा० १] होइ तह यायणादि(ता वि?) णि ॥ १४७ ॥

अकार इकारश्च द्वौ वृत्त(?) दीर्घौ । आकारश्च ईकारश्च द्वौ [वृत्त?] दीर्घौ । उकारो वृत्तः ।
औ(ऊ?) कारस्वसः (रज्यसः) । एकारश्च ओकारश्च पुनर्द्वौ वृत्तदीर्घौ । ऐकार औकारश्च दीर्घौ ।
अंकार अः सविसर्गः दीर्घचतुरस्रै(स्रौ) । मतातरेण धनुरावेवा (चतुरस्रावेव) । एतेषां मध्ये ॥
यस्य चाहुल्येन तेन तज्जानीयम् । पूर्वनिर्दिष्टा दीर्घा विशेष(याः) ॥ १४७ ॥

दीह(हा) वट्टा तंसा, चतुरंसा आप(य?) दा य संटाणे ।

क-खमादिणो य वग्गा, मीसामीसेसु [प० ७५, पा० २] नायवा ॥ १४८ ॥

कचटतपयशाः सप्त दीर्घाः । खलठथफरपाः सप्त वृत्ताः । गजडदबलसाः
सप्त लमा(श्रयसाः) । घहृढ[घ] भवहाः सप्त चतुरस्राः । ऊवणनमाः पंच दीर्घचतुरस्राः । ॥
प्रभाक्षराणां मध्ये यस्याक्षरवाहुल्यं भवति तेन तद्[व]स्तु निर्देशः(श्यम्) । वृत्तदीर्घाक्षरस्तु यदि
चाहुल्येन दृश्यते तदा वृत्तदीर्घवस्तु निर्देश्यः(श्यम्) । एवमन्येऽपि मिथा ज्ञेयाः ॥ १४८ ॥

पढम-तइया य छि [प० ७६, पा० १] दा, सीया य घणोसिणा अ पि(वि) चउत्त्या ।

पंचमओ पुण वग्गो, होतिदोसु (उण्होछिदो?) या(य वा?) मीसो ॥ १४९ ॥

प्रथमवर्गरत्ततीयवर्गश्च, एते द्वौ छिद्रौ क-नादिकौ सी(शी)तौ च । द्वितीय-चतुर्थौ ॥
ख-घादिकौ घनौ उण्णौ च । पञ्चमो वर्ग उण्णो घनछिद्रः । अत्रे एतेषां येन चाहुल्यं तेन
निर्देशः[ः] कार्यः ॥ १४९ ॥

दो सेया धूमलओ, रत्तो चित्तो य किण्हवण्णो य ।

ये उ(ए ओ) य पुणो सेओ, दो नीला पीयला [प० ७६, पा० २] चरिमा ॥ १५० ॥

अकार इकारश्च द्वौ स्वरौ श्वेतौ । आकारो धूम्रः । ईकारो लोहितः । उकारश्चित्रलः । ॥
ऊकारः कृष्णः । एकार ओकारश्च द्वौ श्वेतौ । ऐकारो नीलः । औकारो(रः) पीत(नी)लः । एव
अं अः पीतौ । अत्रे एतेषां मध्ये यदा(द)क्षरवाहुल्यं भवति तेन वर्णनिर्देशः[ः] कार्यः ॥ १५० ॥

सेदा किन्हा रत्ता, नीला तघ पीयला य वण्णेण ।

कखमादीओ वग्गा, मीसा मीसेसु णायवा ॥ १५१ ॥

कादिवर्गः श्वेतः । खादिवर्गः कृष्णः । गादिवर्गो रक्तः । घादिवर्गो नीलः । ॥
ण न माः पीतलाः । एतेषां यस्याक्षरं चाहु[प० ७७, पा० १] ल्यं अत्रे [वस्य वर्ण] निर्देशः कार्यः ॥ १५१ ॥

सुरमी मवो सुरमि(मी), मवो सुग(दुग्गो)भिया तथा वीणि ।

सुरमी मवो सुरमी, [मवो] दुग्गभियो सुरमी ॥ १५२ ॥

अकारः सुरमिः । आकार ईषसुरमिः । इकाऽ सुरमिः । ईकार ईषसुरमिः । इक
 हो दुर्गा । एकाऽ सुरमिः । ऐकारोऽप्यसुरमिः । औकारऽ सुरमिः । औकारोऽप्यसुरमिः ।
 * अं दुर्गाभिः । [अः सुरमिः] । प्रमाहरणां मन्वे सुगंभिसरपाहुस्वं मवति तथा सुगंभिसर-
 क्तसुमारिकं हेवम् । दुर्गाभारणे(वीणे)मवेव ॥ १५० ॥

सुरमी क-भाविबग्गो, गगा(ग-जा)दिबग्गो य तह य नायवो ।

सेसा [य च य २] तिणि वि घग्गा, वुग्गाभिवं(वी)जणा होंति ॥ १५३ ॥

क-भावि[ग-भावि]वर्गी हो सुरमी । सेपवर्णवचं य-भावि दुर्गाभि । प्रमे पठेणं पाहुस्वे
 * पूर्व[व]त् सुगंभारवो वेवाः ॥ १५३ ॥

एतस्मिन्नेवाहं संवाहकारिणो(एवा) अन्वयमन्वय गाथा स्मिन्नेवा । एतथा-

- दो वग्गा(ह) दो वीहा [दो रसा दो व होंति वृत्त]का । दोमि व होंति शिमेवा दो वह वरवि वाचव्य ॥
 * 'अ इ'वहा 'आ ई' वीहा 'उ ए' वे(रं)का 'ऊ ऐ' वररंका ।
 'ओ(ओ)वी'शिवेवा । 'अं का' वृधि(वहा) वाचव्या ॥ २ ॥ [य च य २]
 * वदे वान सुवचं वीदेह वचं विवाग्यादि । एतेव होह सुचं(वर्ण) वररंके संसर्प वान ॥ ३ ॥
 शिमेवा(वोवै)दि व विवाह(ह) वदे वररं वीवच व शिवेदि । [धरंके 'मिरेदि' वचनं इति वचं]
 वदे(वदे)ह होह व(ह)वचं वीदेह वरवचं व वाचव्य ॥
 एतेह होह वररं व(ह)वचं होह वररंके ॥
 शिमे(ओ)वेदि व वचं वचं वाचव्यं व वदेदि ।
 * वदेह होह वग्गा, वीदेह ववा वुवैवग्गा ॥
 एतेह होह वदी वररंके वच(व)चं [य च य २] वाचिं । [वचवर्णः] ।
 शिमेवेदि व वृचवचं, वररंके (एते व) व होह वदेदि ॥ [वृचवर्णः]
 वचं वचवग्गो सरो वचं वररं वह वचवग्गिचं । एतं वाच्यं वचं वैवकविमकार ववेवग्ग ॥
 वचवग्ग विरचं वचवग्गिच्य वच(व)रे वाच । विवृचवग्ग वरं विवचवग्गिच्य वदे(वि)रे वाच ॥
 * वचवग्ग[व]चवग्गे वच वह वचवे वररंदि । वचवग्ग[व]रे वचवग्ग[व]रे वच वचवग्गिदे ॥
 वचवग्गिदेवचं, वचवग्गिदे वचं वचं । वचवग्ग व वग्गे वचवग्गिच्य वच वचवग्ग ॥
 विवृ वग्गिच्य वरं, [य च य २] विवचवग्गिच्य वचवग्गो वि(?) ॥
 दो वचं दो वग्गा, दो वोवा दो वग्ग । दो वग्ग दो विवचवग्ग दो वग्गा वुवैवग्गा ॥
 वोरवग्ग वग्ग, वग्गिच्य वग्ग वेव वचवग्गिच्य(?) ।
 * वचवग्गा वै वग्ग, वग्गिच्य वग्गा वोरवग्गिच्य(?) ॥ वचवग्ग वग्गा वग्गिच्य ॥

पदमो जवमो य सरो, क-भाविबग्गो य सीय र्वा[ह]ओ [य] ।

कस(कस)ह लुक्सा य वस(स-भा?), विदियदसम वा[रस]सरो या॥१५४॥

प्रथमस्य अक्षरः । अ(अ)वम ओकाऽ । (क-भा)विबर्गाः-क व ह त प व हाः व च व ह
 व च सा क(व) । सी(सी)वा कवचम । ए क ठ व च र वा, व ह ह व च व ह व ह । द्वितीयस्य
 * वाकारः । एतम औकारः । इत्येव अक्षरऽ सचिचर्गाः । एते कर्त्तृता(स) वग्गाय । एत-
 वृचवग्गो प्रमे वग्ग[य च य २]वचवग्गं वदीचं सी(सी)वाचिकं वाचवग्ग ॥ १५४ ॥

तइओ [य] सत्तस(म)सरो, कमा(गा)दिवग्गो य मि(नि)च्चनिच्चाओ ।

लुक्खा उण्हा गरुया, खघा सरा य चउरट्टमा दि(दो)ण्णि ॥ १५५ ॥

चृतीयः खर इकारः, सप्तम एकारः, ख(क)गादिवर्गो च द्वौ । एतेषां वाहुल्ये क्षिग्घ-
द्रव्यमादेश्यम् । ख[घा]दिवर्गः, चतुर्थस्वर इकारः, अष्टम ऐकारः । एते रूक्षाः उज्जा [गुरुकाः] ।
एतदक्षरस्वरवाहुल्येन तद्भवति ॥ १५५ ॥

घातुस्सरा य दोण्णि वि, पंचम(य?) अणुणासिया मउअ सीदा ।

वामिस्सा पुण सवे, मिस्सामिस्सा मुणेयवा ॥ १५६ ॥

घातुस्वरौ 'उ ऊ', पञ्चानुनासिकाः, मृदवः सी(शी)तलाश्च । क्षि[ग्घ]रूक्षाक्षरैः[]
नाक्षिग्घो न(ना?)रूक्षो(क्ष) आदेश्यः । मृदु-कर्कसा(शा)क्षरेण(ण?) मृदु-कर्कसो(श) आदेश्यः ।
[५० ८०, पा० १] उज्ज-सी(शी)ताक्षरैः[] न उज्जो न सी(शी)त आदेश्यः । यद्योक्ताक्षरवाहु-
ल्येनैतद् भवति ॥ १५६ ॥

तित्तौ कडुय कसाओ, अंघो(वो) महुरो य आणुपुवीए ।

को(का)दीणं वग्गाणं, सरपरिमाणं(णो) मुणेयवो ॥ १५७ ॥

कादिवर्गो तिक्तः । गादिवर्गो(र्गः) फटुकः । खादिवर्गः कपायः । घादिरुल्लः । ऋदि-
वर्गो मधुरः । अनयोरानुपूर्व्या यद्योक्तवर्गोऽक्षरवाहुल्ये स(स्वर)परिणामो(माणो) घाच्यः ।
एव वर्गाणां खराणां संख्यानं च ॥ १५७ ॥

॥ वर्ण-रस-गांध-स्पर्शप्रकरणं समाप्तम् ॥

वित्ति य चउत्थो य सरो, पढमो अणुणासिओ चपज(क ख ग)वा य ।

एते व(अ)ग्गेईए, अकगा.....पुव्वदा तिण्णि ॥ १५८ ॥

'च(क) ख ज(ग) घ ङ(ङ)' इत्येषां पंचानां अन्यतमवाहुल्ये अ(आ)कारेण इ(ई)कारेण ॥
वा युक्ते एते[५० ८०, पा० २]पामप्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते आकारेण इ(ई)कारेण वा अभेयां(य्या)
दिशितद् वस्तु विज्ञेयम् । अकगाक्षरवाहुल्ये अकारेण इकारेण वा युक्ते[प्रभे] पूर्वस्यां विसि(शि)
तद् वस्तु विज्ञेयम् १५८ ॥

ट छ ड(च छ ज)झ तइओ य सरो, वित्तिओ अणुणासिओ य जम्माए ।

अट्टमसरो प(य) टठ डढ, हवंति णं(ण)कारो य णिरईए ॥ १५९ ॥

ट छ ड(च छ ज)झाश्चत्वारोऽक्षराः, चृतीयस्वरः इकारः, द्वितीयानुनासिकश्च अ(व)
कारः । एतैः पूर्वोक्तन्यायेन यान्यायां दिशि तद् वस्तु विज्ञेयम् । अष्टमस्वर ऐकारः,
व(ट) ठ ङ ढाश्चत्वारोऽक्षराः, [५० ८१, पा० १]णकारस्य(श्च) । एभिर्नैरु(र्नैरु)त्वां विसि(शि) द्रव्यं
स्ये(क्षे)यं पूर्वोक्तन्यायेनेति ॥ १५९ ॥

अधरेण सत्तमसरो, चउत्थ अणुणासिओ अ प व(त थ द)वा य ।

दसमसरो सप(म)कारो, अधरुत्तरतो फ भ मा(प फ व भा) य ॥ १६० ॥

प ष व वा प (त ष व व म) ब्रह्मे प्रभे एतेपानेवान्मथमस्मात्प्रभो औ(ए)कारेण पुषे
 एवामेवान्मथमस्मात्प्रभो वाऽन्तरमवस्थितेन एकारेण पश्चिमात् सिधित्ति(धि) इत्थं हेवम् ।
 प ष व (प ष व म) ब्रह्मे प्रभे एतेपानेवान्मथमस्मात्प्रभो वाऽन्तरमवस्थिते[म] औकारेण
 वाचम्यां हेवा(यम्) ॥ १६ ॥

भात्तुस्ता १ ६१ पा २ जा य स ष ह (हा), पायसा तह य उचरद(सि)साए ।
 चरिसो षवम्मे(भो)य सरो, ईसाणीए सर पा(यर ला)य ॥ १६१ ॥

वात्तुस्तौ द्वौ षव, स ष हा म् प्रभोऽस्तया, एभिः पूर्वोऽन्वात्नेन उचरन्तां सिधि
 इत्थं हेवम् । चरिसौ द्वौ अंशः । तवमत्तर बोलात् । चरपा (चरसा) म् प्रभोऽस्तया ।
 एभिः पूर्वोऽन्वात्नेन येनाम्नां सिधि इत्थं हेवम् । एवं मत्तव इत्थं हेवम् ॥ १६१ ॥

१० ॥ द्विपवादे(वि)द्वयस्य सिधित्ति(धि) १ ६१ पा १ अकारणं समाप्तम् ॥

उत्तरसरेसु गाने, जाणे अहरेसु बाहिरसौ [य] ।

उत्तरसरसंजुषे, गेहे अहरकन्तरेसुं च ॥ १६२ ॥

उत्तरसरेसुत्तरसुकेषु पार्श्विन् ए(म)द्या म(ए)च्छति माने एविति हेवम् । परां
 बाहुत्वे । उत्तरसरायम् पूर्वोऽन् एव । अपरसरासंजुषेसुत्तरसरेषु एषु पार्श्विन् एच्छति
 १० वाह(ह)वाहाइमिति वच्छम् । एतेषां बाहुत्वेन । उत्तरसरासुकेष्ववराह १ ६५ १ एषु
 पार्श्विन् एच्छति कश्चि[त्]पुहे हेवं पूर्वोऽन्वा(न्वा)त्नेन । उत्तरसरायम् पूर्वोऽन् ॥ १६२ ॥

उत्तरसरसंजुषे, अहरे तं चैव होइ सयणपरे ।

परवगाहपु बगो, असमजबम्गो हवइ वं ॥ १६३ ॥

उत्तरसरासंजुषे अत्रउच्यते आनीद्वि कश्चपुहे इत्थम् । परवगाहते कपे इत्थं परपुहे
 १० मवतीनात्परम् । धार्श्विनिवामिभूमिपरागायैते प्रभोऽमिन्नन्ति । वधैते वार्ता [१ ६५ १]
 कश्चिन्नन्ति ववा पूर्वोऽन्वा(भो)च्छमिति ॥ १६३ ॥

आणे सकारंय(काय)गारुए, अप(प्य)णगेहमि ठधियय(ठाधियं) वं ।

परवगामिहपुं, सयणग(गि)हे हौं(हो)ति त वष ॥ १६४ ॥

एव कश्चपुहवर्षो १ ६४ पा १ अन्व बो यवति । कश्चाएव कश्चपुहवर्ष
 १० इत्यादि । एवपुहवर्षे प्रभे कपुहे इत्थम् । परवगाहकमि(ए)मिहवैः कश्चपुहे इत्थम् ॥ १६४ ॥

पठमे चरमे [य] सरे, दिहे वत्यू य हौं(हो)ति पुषेण ।

वितियसरे य क्वगो, अगोईपु हवइ वत्यू ॥ १६५ ॥

कपुहे चरपुहेऽरन्थे वा प्रथम् । गृहा(री) प्रथमसरो अकार, अ[ः]कापे इतरसयम्[त्]-
 सिधयः । आम्नां केशवाम्नां प्रभे पार्श्विन् एच्छति एव एहाम्भवे पूर्वव हेवम् । द्वितीयसरे
 १० आकारे कश्चांकारकोपरिगतोऽप्रभो वाऽन्तरमवस्थिते पार्श्विन् एच्छति कश्चि[त्]पुहवर्षे
 एवपुहे पूर्व १ ६५ पा १ अक्षिन्नरिपरागोत्, इत्थम् ॥ १६५ ॥

तइए णवमे य सरे, तइए वग्गे हवइ जम्माए ।

ईकारेकारंमि य, चउत्थवग्गे य निरईए ॥ १६६ ॥

द्वितीयवर्गश्चकार(रः), तस्योपरिगतेन तृतीयस्वरेण इकारेण णवमस[रेण] ओकारेण वा चकारस्य वाऽप्रतोऽन्तरमवस्थितेन द्वयोरन्यतरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे दक्षिणस्या दिसि(शि) ज्ञेयम् । चतुर्थवर्गटकारस्योपरिगते[न] ईकारेण ए(ऐ)कारेण वा टकार- 5
स्याप्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन स्वरद्वयस्याभ्यन्तरेण दृष्टेन यत्किञ्चित् पृच्छति तद्गृहस्याभ्यन्तरे नैरइस्या(नैर्ऋत्या) दिसि(शि)[प० ८४, पा० २] ज्ञेयम् ॥ १६६ ॥

एकार सत्तस(म)सरे, पंचमवग्गे य वारुणीए उ ।

छट्टे दसमसरे [वा], वायवाए उ णायवं ॥ १६७ ॥

एकादश स्वरः अ, सप्तम एकारः, ताभ्यां तकारयुक्तस्याप्रतो वाऽनन्तरमवस्थितेन 10
उभयतः स्थिताभ्यां वा वारुण्या द्रव्यं ज्ञेयम् । तथा पष्ठे वर्गे पकारे दशमस्वरेण युक्तेऽप्रतो वाऽनन्तरमवस्थिते वायव्या [प० ८५, पा० १] दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६७ ॥

पंचमरसे(सरे) य वग्गे, सत्तमए हवति सत्तमदिसाए ।

अट्टमवग्गे छट्ट[ट्टे], सरे य ईसाणिए जाण ॥ १६८ ॥

सप्तमवर्गस्या(स्य) यकारस्याधोगते उकारे यकारस्योपरिगते वाऽनन्तरमवस्थिते यत्किञ्चित् 15
पृच्छति तद् गृहस्याभ्यन्तरे सौम्यां(सौम्याया) दिशि द्रव्यं ज्ञेयम् । अष्टमवर्ग[स्य]सकारस्याधो गतौ(ते) पष्ठस्वर उकारः(रे)[प० ८५, पा० २] सकारस्यानन्तरमवस्थिते पृच्छकस्य तद्गृहस्याभ्यन्तरे ऐशान्यां दिसि(शि) द्रव्यं ज्ञेयम् ॥ १६८ ॥

अट्टसरा आइछ्छा, अट्ट य वग्गा य आणुपुवीए ।

इंदाणीण दिसाणं, कमसो वग्गेषु पविमत्ता ॥ १६९ ॥

उक्तार्थे(र्थे)व गाथाऽनन्तरप्रपञ्चेन ॥ १६९ ॥

सव्वे सट्टाणाओ, सप(प्प)डिहता हवंति चउत्थाओ ।

उत्तर अह(हो) सवण्णा, हसंति पुवावरं वग्गं ॥ १७० ॥

प्रश्नाया पूर्ण(र्ष)दिगु(ग)क्षरसन्मिश्रैः पश्चिमदिगक्षरैस्तुल्यैर्द्वयोरपि दिशोन्म(र्ष)ध्ये द्रव्य-
मादेश्यम् । यदि पूर्वदिगा(ग)र्क्ष[प० ८६, पा० १]राणां बाहुल्यं तदा पूर्वस्या(स्या) दिति(शि) । 25
पश्चिमदिगा(ग)क्षराणां बाहुल्यं तदा पश्चिमादिक्समीपे द्रव्यमादेश्यम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षरै-
रुत्तरदिगा(ग)क्षरसन्मिश्रैस्तुल्यैर्द्वयोरपि दिशोरनयोम(र्ष)ध्ये द्रव्यं ज्ञेयम् । दक्षिणदिगा-
क्षराणां बाहुल्ये दक्षिणदिक्समीपे द्रव्यमवतिष्ठति । पूर्वदिगक्षरैराग्नेयादिगक्षरैः सन्मिश्रैम(र्ष)ध्ये
द्वयोरपि विगिचद(दि)शोरन्तराले द्रव्यं तिष्ठतीति वक्तव्यम् । पूर्वदिगक्षराणां बाहुल्ये पूर्वस्या
दिसि(शि) समी[प० ८६, पा० २]पे द्रव्यं तिष्ठतीति आदेश्यम् । आग्नेयाक्षरबाहुल्ये आग्नेयाया दिशि 30
समीपे द्रव्यं तिष्ठतीति विज्ञेयम् । दक्षिणदिगा(ग)क्षरैराग्नेयादिगा(ग)क्षरमिश्रैस्तुल्यैर्दक्षिणस्या

मूलस(स्स)रेसु उट्टं(डुं), अहो [य] धातुस्सरेय(सु) सवेसु ।

सेसेसु तिरि[य]भागे, गेहै दत्त्यं(वं) तु[ह?] परोक्खं ॥ १७३ ॥

मूलस्वराः 'ई ऐ औ' एतेषु दृष्टेषु प्रश्ने ऊर्द्धभागे द्रव्य तिष्ठतीत्यादेश्यम् । धाम्यधातु-
स्वरौ द्वौ 'उ ऊ' आभ्यां दृष्टाभ्या अधोभागे द्रव्य तिष्ठतीत्यादेश्यम् । शेषेषु—'अ आ इ ए ओ'
एषा पञ्चाना अन्यतमाधिक्ये तिर्यग्भागे द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । स्वगृहे संचयं द्रव्यं नष्ट
तदेभिः स्वरैः [५० ११, पा० १] ज्ञा(ज्ञा)तव्यमिति ॥ १७३ ॥

जल देवय अग्गिख(घ)रं, दिट्ठे वत्थुंमि ति[न्नि?] नि(ति)ट्ठाणं ।

लक्खेज्ज जीव धाउं, मूलाण य तिनि(न्नि) वाणइ(टाणा)इं ॥ १७४ ॥

कचटतपयसा(शा)[नाम]न्यतमाधिके प्रश्ने जलगृहे द्रव्यमादेश्यम् । खल्लथ
फरपाणा चतुर्यवर्गसंज्ञकाना चान्यतमाधिके प्रश्ने गोशालायां द्रव्यमिति शेषम् । गजट
दवलसा नामन्यतमाधिके प्रश्ने देवगृहे द्रव्यमादेश्यम् । कुल्लणनमाधिके प्रश्ने अग्निगृहे
द्रव्यमवतिष्ठत इत्यादेश्यम् । मिश्रेषु यत्सवधिनाऽक्षरा बहवः [ः] तस्मिन् द्रव्यमिति शेषम् ।
जीवयोनी लव्वाया जीवो नष्टमि(ष्ट इ)त्यादेश्यः । मूलयोनी लव्वे मूलम्, धातुयोनी लव्वे
घा[५० ११, पा० २] तुद्रव्यम(व्यं न)ष्टमित्यादेश्यम् । तद्य त्रिखे(त्वे)व स्थानेष्विति नष्टिकास्वगृह-
काण्डम् ॥ १७४ ॥

छिहे तत्थंरिपं(रत्थंतरियं?), परवक्कु(त्सु)मणंतरं घणे दिट्ठे ।

जो च्चिय वत्थु निवेसे, गमओ सो चेव रत्थासु ॥ १७५ ॥

क-नादीना प्रथम-नृतीयवर्गीयाना छिद्रसंज्ञकाना अन्यतमाक्षराधिके प्रश्ने रथ्यान्तरितं
द्रव्यमादेश्यम् । ख-घादीना वर्गीक्षराणा घनसंज्ञ[५० १२, पा० १]काना अन्यतमाधिकाना प्रश्ने
स्वगृहस्थानन्तर यत्परगृह [तस्मिन्]द्रव्यमित्यादेश्यम् । एवं [व]स्तुनिवेशविधिरुक्तः । पूर्वाऽऽ-
भेयी दक्षिणे(णा) नै(श्रे)त्यपरा वायव्योत्तरेक्षानी चेति [दिक्] । चैरक्षरैर्गु(र्गु)हाभ्यन्तरे एवासु
दिक्षु द्रव्यसमिहित तैरेवाक्षरैस्तेनैव प्रकारेण रथ्यास्वपि द्रष्टव्यम् ॥ १७५ ॥

हस्सेसु समं ठाणं, सहावदीहे[५० १३, पा० २]सु उण्णयं जाणे ।

पंचम छट्ठे य सरे, दोसु वि णिण(णि)ण्णं मुणेयवं ॥ १७६ ॥

ह्रस्वानां 'अ इ ए ओ' एतेषामन्यतमाधिके प्रश्ने समस्थाने द्रव्य तिष्ठतीत्यादेश्यम् । स्वभाव-
दीर्घाणां [ऊ ऐ औ] एषामन्यतमाधिके प्रश्ने उन्नते भूभागे द्रव्यमवतिष्ठत इति वाच्यम् ।
पञ्चमस्वर[उकारः], षष्ठस्वर ऊकारः, अनयोर्दृष्टयोनि(र्नि)म्रोन्नतभूभागे द्रव्य तिष्ठतीत्या-
देश्यम् ॥ १७६ ॥

ततियस्सरो वि रत्थं, कवे(ये)ति जइ वंज[५० १३, पा० १]णे य संजुत्तो ।

उत्तर-यंजणसहिते, त्रितिए उक्खं हवइ ठाणं ॥ १७७ ॥

दृष्टीवत्तर इकाः, स अक्षय्यतमाद्युपरिगतो रप्यायां इक्ष्यमाचष्टे । द्वितीयस्त
 काकाः, सोऽभिहोचराक्षर(ः)न्यतमसंपुच्छे रप्यायमेव इत्थं कथयति ॥ १७७ ॥

सधिसगोष्ठु चउच्छ, साणुत्सारेसु अधरत्तरठाणं ।

लोह्य-लोठचरिय, घणक्खरे देठल लक्खे ॥ १७८ ॥

१ सधिसर्गाः 'अ'कारः स यथा प्रथमे अक्षय्यतमाद्युपर्यर्थात्किं (१ १८, प १)तो दृश्यते केवको
 वा यथा अणुप्यवे इत्थमादेशयम् । एकादशमोऽणुप्यवा 'अ' यथाऽक्षय्यतमाद्युपरिगतो दृश्यते
 केवको वा यथा तस्य अणुप्यवस्य पश्चिमदिग्भागे इत्थमवतिष्ठत इत्यादेशयम् । यनास्यत्प्रां
 'अ' उठ य कर वा यां, बल ड ब म ब हानां' नाम्यतयवदुले प्रथमे औकिर्यैवदुले इत्थमादेशयम् ।
 [१ १४ प-१] औकिर्यैवदुले अक्षय्यतयवदुले । एतेष्वेव यनास्यरेपुचरत्तरठाणंकेषु औको-
 २० चर्यैवदुले इत्थमादेशयम् । औकोचरिर्क्यैवदुले(अ)मित्तार्थापनं अक्षय्यम् ॥ १७८ ॥

सद्यत्य [य] जीव-भातु-मूलाण लक्खण सउट्टु(ओ) ठांणा ।

एतो य गामदुद्धो, एतो थि य याहिरो दुद्धो ॥ १७९ ॥

सर्वत्र जीव-भातु-मूलाणां बन्धवत्त्वात् १४ प १] न मूलोक्तं तत्र जीव(वं) भातु(त्वं)
 मूलं येति त्रयम(मि)वाक्यार्थोद्देशः कार्य इति । तत्र तत्र कामे एव दंढो बहिरभ्यन्तरे च माय
 २० कोकाः । ईदृशध्वेन च नई व(व)नदुष्कते ॥ १७९ ॥

॥ मच्छिको(का)वर्णः समासम् ॥

एतो(चो) चित्तविभागो, मुट्ठिविसेसेण अक्खरुप्यत्ती ।

गेहिरिखा(गहरिक्खा)णं सुया, सधेसिं उवगयविसेसो ॥ १८० ॥

अथा परं चित्ताभिः [१५, प १] मत्तक मुट्ठिविसेसेण मत्तकां मत्तकायां च सुखं केसो-
 २० (ओ)रेसेन यथावत्सुखचित्तवर्धनं तदाद्युपरिगतं च मत्ता महि(क)यायां च वर्धना-
 (मत्ता)मुपगतविसेसेमिति बह(स्व)मपोपन्यासार्थमा(दा) । अथाऽथ अक्षय्यतयवदुले ॥ १८० ॥

तह सइणिण्णाओ वि[य], सधे मावा य सव्वद्वानं ।

णंदावत्ते जोए, सच्च वियप्पा [१५, प २] ह्वंति इमे ॥ १८१ ॥

पदहात्तयोदित-इत्यवधमिति सधो माचक्ष्येन मित(र्ष)ववर्णादुत्तिप्रमाणापीति अण्यन्ते ।
 २० सर्वभावा अक्षय्यतयवदुले 'आमाकाम-मुक्कहुःक-वीवित्तमरण' इत्याद्यवधमिति वदुः । सक-
 इत्थयायां चित्तिवर्धनार्थे(क्ये) कथमे एत मेवा भवन्तीति वदुयापोपन्यासः ॥ १८१ ॥

तथा चैतत्-

पढमो चित्तामेवो, तस्स य मेवा ह्वंति अट्ट इमे ।

जीवादीण ओणी, तिविहो पढमो ह्वति मेवो ॥ १८२ ॥

तेषां सप्तानां भेदाना [प० ९६, पा० १] मध्ये प्रथमचि(ञ्चि)न्वाभेदः । तस्य भेदा भव-
न्त्यष्टौ वक्ष्यमाणाः । जीव-धातु-मूलाना योनिस्त्रिविधा या सा प्रथमचिन्ताभेदे पतति ॥ १८२ ॥

गुरु-लह्युय अक्खराणं, संजोओ वितियओ हवंते(वति) भेदो ।

तितीओ पीडासद्धि(हि)ओ, ततो(त्तो) अभिघातिता तित्ति ॥ १८३ ॥

गुरु-लघ्वक्षराणा सयोगो द्वितीयो भेदः । पीडाभेदस्तृतीयकः । क(फः) पुनरसौ ? अघा-
(धो)मात्रा अप्रधाना येऽभिहता रेफ-यकार-उकार-ऊकार-सहिताः । आलिङ्गितश्चतुर्थः । अभि-
धूमितः पचमः । दग्धः षष्ठो भेद [प० ९६, पा० २] इति ॥ १८३ ॥

एक्को पयडिविसेसो, सत्तमओ संकडाइ अट्टमओ ।

एत्तो चिंताभेदा, पणयालीअक्खरूप(प्प)ण्णा ॥ १८४ ॥

एकः प्र[कु]तिविशेषकः । कु(कः)पुनरसौ ? जीवप्रकृति-धातुप्रकृति-मूलप्रकृति[रूपः] ॥
सप्तमो भेदः । सकट-विकटभेदा(दो)ऽष्टम उक्त एव । एते चिन्ताभेदाः पचचत्वारिंशदक्षरप्रति-
चक्षा इति ॥ १८४ ॥

॥ चिन्ताभेदप्रकरणं समाप्तम् ॥ [प० ९७, पा० १]

दुग दुग तिग तिग य चतू, चतुक्क पण पण छ सत्त वसु णवया ।

णामक्खराण य सरा, हवं(होँ)ति आ(अ)कारादिणं कमसो ॥ १८५ ॥ ॥

| | | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|----|----|
| अ | आ | इ | ई | उ | ऊ | ए | ऐ | ओ | औ | अं | अः |
| ० | ० | ३ | ३ | ४ | ४ | ५ | ५ | ६ | ७ | ८ | ९ |

अकारो द्विसंख्यः । आकारोऽप्य(पि) द्विसंख्य एव ।
[प० ९७, पा० २] इकारस्त(स्त्रि)संख्यः । ईकारोऽपि त्र(त्रि)-
सख्या(ख्य) एव । उकारच(श्चतुः)सख्या(ख्यः) । ऊकारश्चतुःसख्या(ख्य) एव । एकार[ः] पञ्च-
सख्या(ख्यः) । ऐकारोऽपि पञ्चसख्या(ख्य) एव । ओकार[ः] षट्सख्या(ख्यः) । औकार[ः]
सप्तसख्या(ख्यः) । अकारः स्वा(सा)नुस्वरोऽष्टसंख्यो(ख्यः) । अकारः सविसर्गो नवसख्या(ख्यः) । ॥
अकारादय[ः] स्वरा द्वादश अक्षरैर्युक्ता [प० ९८, पा० १] यथोक्तसख्या द्रष्टव्या इति ॥ १८५ ॥

द्वितीयप्रकारः -

चउ ति ति चउक्क चउत्थ, चउ सत्त वयुहण(हुँडुहु णवय)वग्गं च ।

संखापरिमाणे तस(स्स)राणङ्गाराइणं कमसो ॥ १८६ ॥

एगादीया पंच उ, कमादी(दि) अणुणासियावसाणाणं ।

कमसो णाम ए(प)माणं, पंचइ(चाण) वि आणुपुवीए ॥ १८७ ॥

ककार एकसख्या(ख्यः) । रकार[रो] द्विसख्या(ख्यः) । गकारस्त(स्त्रि)संख्या(ख्यः) ।
घकारचतु(श्चतुः)सख्य[ः] । ङकार[ः] पञ्चसख्य इति । एव क-गादि-ङकारपर्यवसानां क्रमसः
(शः) [प० ९८, पा० २] सख्याऽभिहतेति ॥ १८७ ॥

जो वे(ये)त्र क्यगकमो, चादीणं सेसयाण सो चेव ।

वग्गाण होइ गमओ, जाव ण केण(णा)वि संजुचो ॥ १८८ ॥

य एव संकथं प्रति [क]वर्गस्य क्य[ः], स एव चादीनां वर्गाथं क्यो ज्ञेयः । क्त्वेपा-
क्षरेण वा असंपुच्छन्तं अनभिह्वानां चेति ॥ १८८ ॥

जावत्तिपा संजुचा, पचे पचेसि(वि?) मेल्लिया संसा ।

आळिगियाइ तचो, विस्सुद्धसेसा ह्वइ संसा ॥ १८९ ॥

क्त्वेपाक्षरेण वा पुचे(च्छे) वर्गेन वा अपलो वाऽऽन्तरमबन्धितेन वा पूर्वोच्चर[ः] स
संपुच्छ इत्युच्यते । स संबोधो वेन क्त्वा स अ[ः] ११ वा १] उच्यमानादिगपति, अमिबूम
वं(धि)वम्भममिबूम[ः]ति, इत्यर्थं इहोति । आळिगितामिबूमित्त्वव्यवसायाय पूर्वोच्चाः ।
* आळिगितामिबूमित्त्वव्यवसायं मन्वे बो(ष) विद्यते संकथा तां सो(षो)वसित्वा विस्सुद्ध(यः)वसि
(धि)इह संकथा भवति तथा इह(इ) आर्कं मयु[ः] सा अ[ः] ११ वा १] उच्यते ॥ १८९ ॥

एक्क[क] तिय तिय दुय दुय, चत्तु चत्तु पण छक्क सत्त वस(सु)इं च ।

कमसो अक्खरमाणं, अवग्गजोए ककारस्त ॥ १९० ॥

इवं सर्ववर्गेषु ज्ञेयम् । एका [एका] ए(त्रि)काः [त्रिकाः द्विकाः त्रिकाः] चतुष्काः चतुष्कम्
* यथा(च) एह सत्ताओ अकारादिभिः कर्तैः सविस्वार्णकारणवर्ण्येडा(य्येडा)वसतिरित्येतायां
ककारादीनां अक्षरानां ज्ञेया संकथ्य क्येण वाच्य इत्यत्र इति ॥ १९० ॥

एमेव(व) [१ १ १ १] सेसाणं, साएही(दी)णयुणासिय(या)वसाणार्णं ।

णामपमाण(णं) कमसो, उच्चरवट्ठी(ड्डी)ए नामबो(षे) ॥ १९१ ॥

एवमेव शेषाणामपि यथा ककारेण अकारादिद्वारद्वयस्वरयोगेन संकथा विहित्वा तथा
* चादीनामपि अक्षरासिकपर्यन्तानि(मं) अमप्रमाणं कमसः(इः) । उचो(बो)उच्चरवट्ठी(ड्डी)
इत्येवमिति पूर्वगाथापानेन प्रसंगेनोच्यमिति ॥ १९१ ॥

बो(जो)चेव [१ १ १ १] कवग्गकमो, होत्ति उ सो चेव सेसवग्गार्णं ।

णामपमाण(णो) गमओ, अवग्गजोएण निप्पसो ॥ १९२ ॥

य एव कर्णास्य क्यो भवति स यथावसि(दि)ज्ञानं चादिवाप्यां सर्ववर्गव्यवसायं वाच्य-
* प्रमाणे गमवत्तं अक्षरायोगेन निष्पन्न इति । अकारादीनां अकारं इकारादीनां संपुच्छानां च संकथा
सा पूर्वगाथायाः प्रसंगेन व्याख्याता ॥ १९२ ॥ [१ १ १ १]

जह उ अवग्गेण समं, कवग्गमादीण सक्क(च)वग्गार्णं ।

एवं चिय संजोओ, परोप(प्प)इं सेसयार्णं पि ॥ १९३ ॥

इत्यर्थेन ग्रन्थः । यथा अक्षरेण एह कर्णादीनां सत्तामिवा(यताम) वर्ग्यां संबोधो(या)
* य[वेव] वरत्तर(र) चादीनां इकारपर्यन्तानां अक्षरानामपि संबोधो ज्ञेयः ॥ १९३ ॥

तस्मात्(र)स्यराय(र)मिपाव(र)रायाः(र वा) सेया समामाश्वरसंख्या निर्विघ्ना(र) वरा
पूर्वाभरो(र)मिपाव(र)न सञ्ज(र) ह्युत्तमि वरा तस्मात्(र) पूर्वाभरोत्तमत्पुमिपावमुत्तमः
(रवा) सेव(र) ते(र) नामसंख्या सेया । तस्मात्प्रामाश्वरस्य [१ १, ५ १] प्रमात्र प्रमेय
मायम्भस्मिदुक्तम् ॥ १९५ ॥

पत्रमो(मा) सद्ग्या संपत्कराओ योवं च सत्समिच्छसि ।

वितिय-न्वउत्प्या तेसि, त्रिपत्करा ते य घहुसंसा ॥ १९६ ॥

प्रमात्रो- क च उ व प य स्याः । एतौवाः- ग य उ व य स्याः । सेयो संपत्कुर्वन्ति ओ(र)-
मकरा(र)प्रमेय(र)वर्षितायाः प्रपुः । अश्वस्तु लस्यकाक यवति । उद्गुहते प्रमेयप्रमायाश्वर
संख्या सेया । द्वितीयो वर्गः-प्र उ उ व य स्याः । त्रयो वर्गः-व य उ व य स्याः । एते
विपद्य(र)य अमुमकरा न अमकरा इत्यर्थः । अस्पष्टं बहुकातिकं च कुर्वन्ति । उद्गुहते प्रमे
महती नामाश्वरसंख्या ज्ञावप्या ॥ १९६ ॥

एस सराणं गमओ, वग्गाण सत्तमहा(हुमा)ण च ।

त्रिसमन्तरम(र)ग्गाणं, चरिमाण योविआ संसा ॥ १९७ ॥

एव सराणं विधिरिषि पद्(र)उं ह्यसलराः संपत्कराप्ते महर्ति(वी) विमूर्ति कुर्वन्ति ।
अमकराण्य । नामसंख्याकराल (अप्य १) कस्यां कुर्वन्ति । सेवकरा विपत्करा अमम
कराः । नामाश्वरसंख्या महर्ति कुर्वन्ति । अमुमेवार्थं पूर्वोक्तं निर्विघ्नसि । एवं सराणं वप्य ।
अश्वस्तु एवं नाम्ने वर्गा वप्याः । सप्तमवर्गमाश्वरसंख्या च वर्गसंख्या इह(र)वोत्त-
मवर्गकये । विपमाश्वरसंख्या ये के । क च उ व प य स्याः, ग य उ व य स्या ल(र) । परिपा-
ल(र) । संवर्गोच 'क य व य स्या' ल(र) । चरिमां च 'अं मा' अतयोत्पत्त्यसंख्या सेया ॥ १९७ ॥

जे जे जहा सपमस्ता, तेसि वोण्ह पि मेळिया संसा ।

अमिह्यसुब्ब दुगुणा, काठण निवि(दि)से ससा ॥ १९८ ॥

प्रमात्रो बोऽश्वरस्य ये लपसा वप्यते । वैरमिपत्त्य [१ ५ ५ १] नामाश्वरस्य तत्
ह(र)कियते । स नाममिपावका । अश्वस्तुऽप्यवहितस्तु म दोषः । तदोर्ध्वोर्ध्वमिच्छित्तोर्ध्व संख्या
तथा(वा) नामनिर्विघ्न(र)कार्यः । इत्यापार्थकारिकाया व्याप्यमम् । पतत्तु विदयम् । पत आवापु-
कम्- 'पद्ममन्तरसंख्यायामे नाममन्तराव परियायं । अक्षिपियेयु उक्ते एवपरिया इव इत्यर्थे इ'
इत्येव । वप्यते-अत्र अस्मिन्निहितो वो(र)विधिः । इह लपपरपादा(लपपादा) ।
अस्मिन्पादाया सुत्रोपदेश [१ १ ५ ५ १] इति । प्रागर्द्धेनामिच्छि(र)वस्य वप्ये इवसंख्यावोरो
संख्या नामाश्वरसंख्यामिहवा । पता अश्वो अमिह्यौ मन्तराया सप्तमिपादे अमिपावोक्त-
संख्या(र)विद्योप्य सेवा(र) द्विगुणीकृत वरा प्रमात्रे (तत्प्रमात्रो) नामनिर्विघ्नः कार्यः ॥ १९८ ॥

परपमस्ताणं संसं, अमिह्यसुब्बं परोप्परं गुणम् ।

सुण्णेण(णं) विहित्ठणं, वग्गाणं निविसे संस ॥ १९९ ॥

वरा वापु-सूच-जीव-संख्या विज्ञावप्या । विपत्त्यरिमावसि । वरा लपसंख्या वांवी(गी)-
ह(र)कियते । परपसंख्यावार्थो(र)वर्तव्या । अश्वस्तु(र) एव विधिः । प्रमात्रो बोऽश्वरा

योऽभिघातकः । तस्य यो व्यवहितोऽव्यवहितान्यः । अव्यवहितोक्तता(तोक्ता)भ्यामभिघातसु(शु)-
द्धाभ्या परस्पर गुणिने(ते)ति सख्यारूपमिवोच्यते । परस्पर सख्या [याः?] एकपिंडमापाद्य दस-
(श)भिर्गुणय(यि)त्वा प्रष्टुद्र(द्रं)व्यसख्यानिर्देशः कार्यः ॥ १९९ ॥

बहुसंख-अप्पसंखा, वट्ट(डु)इ हाइति य अप्पसंखाओ ।

सोहे [५० १०६, पा० १] तु अप्पसंखं, द्वाणं निद्व(द्वि)से संखं ॥ २०० ॥

अथ द्रव्य अल्प[बहु]सख्याया आनयनोप(पा)यः प्रकारान्तरेण कथ्यते-सकला प्रभा
गृह्य । बहुसख्या द्वि-चतुर्थ-वर्गाक्षराः, अल्पसख्या प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराः । तेषा विद्यमानाभि-
घातशुद्ध(द्धा)नामवसि(शि)ष्टसख्यापिंड स्थापयेत् । बहुसख्यानामपि विद्यमानाभिघातशुद्धाना
सख्यापिंडमवस्थापयेत् । द्वयोरनयोः सख्यापिंडयोर्या यत्र सुद्ध्यति ता [५० १०६, पा० २] तत्र
सोव(शोध)यित्वा या परिशिष्टा ना(ता) शून्येन विश्वा द्रव्यसख्या ज्ञेया ॥ २०० ॥

जह चैव द्धसंखा, भणिया तह चैव कालपरिमाणं ।

एकमणसो करेज्जा, पुवाइतिउ(रिओ)वएसेणं ॥ २०१ ॥

यथैव द्रव्यसख्याऽभिहिता तथा तेनैव प्रकारेण तस्या द्रव्यसख्याया[ः] कालपरिमाणं
कुर्यात् । अनन्यमहानैमितिः(त्तिक)पूर्वाचार्योपदेशेनेति । तच्च कालपरिणाम(माण) कालप्रकरणे
यथा वक्ष(क्ष्य)तीति नोक्तमिहेति ।

अन्ये पठन्ति 'तद्देव कालपरिमाण' यथा द्रव्यस्य कालपरिमाण उपचयापचयं वा प्रति ।
यथा पृष्टः(पुः) [५० १०७, पा० १] आयुः[ः]प्रमाणमपि वक्तव्यम् । तदुच्यते-देवकीं(दैविकीं) प्रश्ना
परिगृह्य भानसिं(सुपीं) वा सैवाकाशप्रश्नोच्यते । प्रष्टुज(र्ज)न्मकर्मनक्षत्रसख्यामभिघातशुद्धामेकत्र
सपिंड्य विसो(विंशो)त्तरन(श)तमध्यात्मो(च्छो)ध्यः । शेष मध्यः । परमायुरेकाते स्थाप्य .तः[ः]
प्रत्येक गर्भरि(ऋ)क्षसख्या मेलयित्वा । स च एकोनविंशत्तमो ब्राह्मः । प्रश्नाच्च प्रत्येक यो(था) यत्र
शुद्ध्यति ता विशोध्य यत्से(च्छे)प तत्पूर्वलब्धपरमायुम(र्म)ध्याच्छोध्यम् । प्रष्टना(पुर्ना)माक्षरौ-
स्वकालरूपां गणयित्वा छो(शो)धयेत् । शेषः स्फुटः परमायुःपिंडक इति । [५० १०७, पा० २]
गतकालपरिज्ञानार्थं उदयनक्षत्रसख्याभिघातशुद्धा सपिंड्यैकत्र द्विगुण कुर्यादेकान्ते अवस्थाप्य
ततः जन्मकर्मगर्भरी(ऋ)क्षाद्यक्षरसख्यामभिघातरहिता सपिंड्य(ड्या)नन्तर द्विगुणीकृत्य संख्या
विशोध्य (१) भूय सकला नामाक्षरा सो(शो)धयित्वा शेषेण अतीतकाल इति । परमायुःपिंडाद्वि-
शोध्य शेषमागा[५० १०८, पा० १]मिनी भवतीति । एव नैमित्तिकपूर्वाचार्योपदेशेनानत्यमाना
(१) न्नायुष्यमान) कुर्यादिति ॥ २०१ ॥ तथा लेखाक्षरसख्यापरिज्ञानार्थम्-

अक्खरमीसं दुग(गु)णं, वग्गेयवं सदा पयत्तेणं ।

पणपण्णभागासेसं, तमि गुणा म(अ)क्खरं जाणे ॥ २०२ ॥

प्रश्नाक्षराणा या यस्य स्वरसख्याऽभिहिता ता सख्यां सकलामेकीकृता द्विगुण कृत्वा ततो
वर्गयित्वा [५० १०८, पा० २] पृच्छा(प्रस्था)पयेत् । तस्य च पृ(प्र)स्थापितस्य द्वे क्रिये भवतः । तत्रैका
लेखाक्षरसख्यापरिज्ञानक्रिया, द्वितीया च वर्गानयनक्रिया । तत्र तावले(हे)खास्व(क्ष)रस्य सख्या-
क्रिया मण्यते-वर्गये(र्गयि)त्वाऽऽद्य स्थापित प्राकृतप्रतिरास्य(श्या?) पचपचास(ज्ञ)ता भागमपहास्य

यङ(ङ)भ्यं तत्पृथक् ज्ञापयेत् । तस्मिन् पृथक् ज्ञापिते पूर्वविधीकृत(ता)क्षरसंख्यां शोचयित्वा
पंचपंचाशतमागवसि(शि)ष्टाभ्य तत्रैव क्षिप्त्वा लेप्याक्षरसंख्या मन्थयेत् ।

सो(सा)भ्यं क्वर्णविराट्प्रत्ययनक्रियोपपत्ते—तत्र पूर्ववर्णितं प १ ९ प १)मन्थयित्वा,
तस्य पंचपंचाशता मागमपङ्क(हा)न यङ(ङ)भ्यं तत्पृथक् ज्ञापयित्वाऽवशिष्टस्य चाङ्गि
मा(मां)गेऽपङ्कते यङ(ङ)भ्यं तद्वर्णक्यापविपचमपरमवशिष्टं तद्वि क्क्यापिरेव वर्णः ।
न्या सर्वं मन्थयति तथा सरो मन्थयेत् । अक्षरपृथक्ज्ञापित पक्षसप्तपिठं वसि भवति तत्
स[म]मिरेव भावितव्यम् । त(प)दा व सप्तपिठं तद्वचसि तथा तस्यापि क्क्यापिरेव वर्णः ।
एव नामसंख्याप्रमाणेव अक्षरान्(शु)त्यायेप(वये)त् मतिमन्थिति ॥ २ २ ॥

॥ इति स्येभर्गविक्रियाधिकारः(रे) संख्याप्रमाण [प १ ९ पा २] समाप्तम् ॥

विणपनस्त्रमाससंवत्स(ञ्ज)रकन्दरा जे ह्वति बहुसखा ।
तथ(प्प)ह स[खा] गुणए, तस्स सनामा ह्वइ सखा ॥ २ ३ ॥

क च ह व प य ङाः— विवसाः । क छ ठ व ष र पाः— पञ्जाः । ग क ड ब ष छ साः— मासाः ।
प झ ङ म न ङाः— संवत्सराः । अ भ ङ न माः— मासाः । विणपनस्त्रमाससंवत्स(ञ्ज)रकन्दरा-
ङ्गुणे प्रमेऽभिपार्तं शोचयित्वा दो(दे)र्ण[प १ ९ प १]मविका संख्या दृश्यते तां ज्ञापयेत् ।
विवससंज्ञा(ठ)क्यर्णस्यापिठसंख्यस्य विवसैरेवावशि(वि) मन्थयति शुभाङ्गमन्थयति चर्णः ।
एव पञ्चाशत्पञ्चां मासाशत्पञ्चां संवत्सराशत्पञ्चां चाधिक्य(व्ये) संख्या वच्यते ॥ २०३ ॥

सत्तम-णवमे य सरे, सुद्धिणे पठम-ततियवग्गे य ।

त्रितिययवग्गे वसमे, सरे य पक्खो ह्वइ बहुले(लो) ॥ २ ४ ॥

सप्तमसरेण पकारेण त्रयमकारे[व]त्तु व(वो)कारेण क च ह व प य ङां ग क ड ब ष छ
सा तं उपरिगतेन केवलेन वा ज्ञापितेन गुणपक्षो भवति । द्वितीयो वर्णः—प छ ठ व ष र पाः,
दो(तेन) व(वो)कारेण च इत्यपक्ष आदेशका ॥ २ ४ ॥

अठमसरमि संवत्स(ञ्ज)रा ह वग्गे(मो) य तह य चठत्थंमि ।

चरिमे भातुस्व(स)रेसु य, मासा अणुणासिये य तहा ॥ २ ५ ॥

प झ ङ म न ङां नामान्वतमापिके प्रभे अङ्गमा[प १ ९ प १]कारेण पकारेण कुक्क, एता-
वा(पतेवा)मन्थयतमाक्षरे केवले वैकारे वच वत्रावशिष्टे पतिविधिं पृथक्श्रितं तत् 'संवत्सरेण प्राप्यत'-
इति वच्यम् । बहुमिर्था इति । चरिमाप्तां सविन्दु-वित्तोर्ण्यं, च वच (वच्यं) ।
अनुनासिक्य व ङ न माः, वमिर्ण्योर्मासां(सा) आदेशका । पूर्वोक्तव्यायेनति ॥ २ ५ ॥

पठमे य सत्तमसरे, पाठिवओ होइ सुद्धपक्खत्तस ।

कायक्खरेसु सत्तसु, त्रितियादी अट्टमी जाव ॥ २ ६ ॥ [प १ ९ प २]

प्रथमसरे अक्षरः । सप्तमसरे पञ्चाः । एतद्वच्यते प्रथमं गुणपक्षस्य प्रतीपङ्कवति । अक्षर
बहुले प्रभे द्वितीया, चकारबहुले तृतीया, अक्षरबहुले चतुर्थां तस्मात्बहुले पंचमी पञ्चापिके
षष्ठी पञ्चापिके सप्तमी [अक्षरापिके अङ्गमा] वर्णं गुणपक्षक ॥ २ ६ ॥

तइए णवमे य सरे, पाडिवओ [५० ११३, पा० १] होइ सुकपक्खस्स ।

गायक्खरेसु सत्तसु, णवमादी पुण्णिमा जाव ॥ २०७ ॥

वृतीयस्वर इकारः, नवमस्वर ओकारः । एतद्वहुले शुक्लपक्षस्य प्रतिपदा भवति । गकारवहुले प्रथमे नवमी । जकारवहुले दशमी । ङकारवहुले एकादसी (शी) । दकाराधिक्ये द्वादशी । घकाराधिक्ये त्रयोदशी । लकाराधिक्ये [५० ११३, पा० २] चतुर्दशी । सकारवहुले पूर्णमासी ॥ २०७ ॥

अट्टम-वितिए य सरे, पाडिवओ होइ किण्हपक्खस्स ।

खादक्खरेसु सत्तसु, वितियादी अट्टमी जाव ॥ २०८ ॥

द्वितीयस्वर आकारः । अष्टमस्वर ऐकारः । एतद्वहुले प्रथमे कृष्णपक्षस्य प्रतिपदा भवति । सकाराधिक्ये द्वितीया । छकाराधिक्ये तृतीया । ठकाराधिक्ये चतुर्थी । थकाराधिक्ये पचमी । फकाराधिक्ये षष्ठी । रकाराधिक्ये सप्तमी । पकाराधिक्ये अष्टमी । तस्यैव कृष्णपक्षस्य ॥ २०८ ॥

दसम-चउत्थे य सरे, निदि(दि)ट्ठे तह य कण्हपाडिवओ ।

घादक्खरेसु सत्तसु, णवमादी [५० ११३, पा० १] सोलसी जाव ॥ २०९ ॥

दशमस्वर औकारः । चतुर्थः स्वर ईकारः । एतदधिक्ये प्रथमे कृष्णपक्षप्रतिपदा भवति । घकारवहुले नवमी । झकारवहुले दशमी । ढकारवहुले एकादशी । धकाराधिक्ये द्वादशी । भकाराधिक्ये त्रयोदशी । वकाराधिक्ये चतुर्दशी । हकाराधिक्ये अमावास्या । एतास्तस्यैव कृष्णपक्षस्य ॥ २०९ ॥

पंचमवग्गे पंचम-सरे [य] एकादसी तहा होइ ।

अणुणासिएसु दोसु वि, सेसा तिहिणो य चत्तारि ॥ २१० ॥

पंचमो द्विस्वभावः । अतः उभयपक्षस्यापि शुक्ल-कृष्णपक्षस्य ग्राहको भवतीति । पंचमवर्गप्रतिपदा उकारस्ता [५० ११३, पा० २] द्वहुले प्रथमे उभयपक्षस्यापि पचमी । औकाराधिक्ये षष्ठी । ङकाराधिक्ये सप्तमी । ञकाराधिक्ये अष्टमी । णकाराधिक्ये नवमी । नकाराधिक्ये दशमी । मकारवहुले एकादशी । अकारः सानुस्वारः, तदधिक्ये प्रथमे द्वादशी च त्रयोदशी । अकारः सविसर्गः, तद्गुले प्रथमे चतुर्दशी पचदशी चेति । एतास्त्रिवर्गा द्विस्वभावत्ता(त्वा)देक्षराणां पक्षद्वयस्य विज्ञेयाः ॥ २१० ॥

वितिया अणुणासाई, एवं तिहिणो क्रमेण चत्तारि ।

दिट्ठमि कण्हपक्खे, एव तिहिणो य(प)विभागो य ॥ २११ ॥

उक्तार्थे वा अतिदेशार्थकारिका । पूर्वार्द्धदृष्टे च कृष्णपक्षे शुक्लपक्षे च । एवमुक्तन्यायेनः तिथीनां प्रविभागः कर्त्तव्यः ॥ २११ ॥

सवत्स(च्छ)रंमि दिट्ठे, वितिए वग्गंमि [५० ११४, पा० २] जाण हेमंत(तं) ।

तइयंमि गिम्हकालं, चडले(चउत्थए) पाउसं जाण ॥ २१२ ॥

सवत्सराक्षरे प्रभाक्षराणामादौ दृष्टे द्वितीयवर्गाक्षरे च तस्यानन्तर अमृतो दृष्टे हेमन्तकालो द्रष्टव्यः । सवत्सराक्षराः - च ष ड ध भ व हाः, द्वितीयवर्गाक्षराश्च - ख छ ठ थ फ र षाः । तस्य

संबत्सराक्षरस्य प्रमाद्यराध्यामाद्यौ शिवस्य बदा ग ड ड ड ड ड सा नामान्वतमाद्यरोऽन्तरमेवामतो
 दृश्यते तथा मीप्यकाड जादेशयः । तस्य संबत्सराक्षरस्य आदौ शिवस्य यदा पङ्कड व म व ड
 ममम्यवमाद्यरो दृश्यते तथा प्राहुडध्वजो वाच्यः ॥ २१२ ॥

पञ्चमयमि य धरिसा, घसतकाल च पठमकाशीसु ।

आयक्स्त्रेसु पचसु, सरभो सेसेसु चड(ठ)यं पि ॥ २१३ ॥

तस्यैव संबत्सराक्षरस्य, प्रमाद्यराध्यामाद्यस्य [१ ११५ पा २] ड व व म मा [ना] मन्वत-
 माद्यरो बदाऽन्तरमेवामतो दृश्यते तथा बर्षाक्षरो(डा) । तस्यैव संबत्सराक्षरस्य प्रमाद्यराध्या-
 माद्यस्य अ प क व ड इत्येतेषां पञ्चानाम् [म] नन्तरमेवामतो दृश्यते तथा चत्स्यध्वजो(ड)
 जादेशयः । तस्यैव संबत्सराक्षरस्य प्रमाद्यराध्यामाद्यस्य त प व भा(का) इत्येतेषां चतुर्णां केचिद्
 मन्वते न ह्यर्था वक्राट-स(ड)क्राटार्थां तथा मवयपंचके अ-ए' सख्यं न गन्वते । क व ड व
 इत्येते तद् गन्वते । एषां बदाऽन्[१-११६ व १] अरमेवामतमाद्यरो दृश्यते तथा सरत्स्यस्य
 जादेशयः । पौष-माषी हेमन्तः । अस्तुन-वैश्री वसन्तः । वैश्वक-श्रेष्ठी व्रीष्यः । भाषण-भाषणौ
 प्राहुडकाडः । भाद्रपद-आशुबौ बर्षाक्षरः । आर्षिक-मार्गशीर्षी अण् । एवं क्रमः । गाथा-
 र्बन्धुधेयतवा यदा वचोऽः ॥ २१३ ॥

पठमस्त पठमताइपु, फम्भू विचो य द्योसु चार्ईसु ।

द्योस(सु) य कश्चियमासो, मग्गसिरो द्योसु चरिमेसु ॥ २१४ ॥

प्रथमवर्षस्य प्रथम-द्वितीय-तृतीये च [१ ११६ व २] अ-ए-क अस्तुवा । प्रमार्गौ अथ
 शिवेति(ठ)त्वक्षरैरन्वरोऽथवा प्रथमां मासाद्यराध्यामन्वतमो बदा दृश्यते तथा अस्तुगो वासः ।
 एवं क्रमेण चक्र-दक्ररो वैश्रः । तक्र-एक्ररो आर्षिकः । च-स(स) मार्गशीर्षी ॥ २१४ ॥

एमेव सेसयाण, उदुवग्गाण पच चटरो(त्वा) य ।

मासक्स्त्रा उ क्रमसो, पोसाषी जाव अस्तशुजो(जो) ॥ २१५ ॥

आये च छ ठ योषा । चक्र एव गाणः । इओ ग क ड वैशाखाः । व व छ स श्रेष्ठा ।
 द्वितीयस्य च आषाढः । व म व ड भाषणः । [१ ११ व १] च ड व व भाद्रपदा । न म
 र्बं वाः जयजुषाः । एवं पीषामिरन्वुवपर्ववसा[व]मिति । एत्र चतुर्वर्षगांक्षरा वे च वत्सर
 च(रा)क्षराः । पंचवर्षाक्षरं च व व म मा मासाक्षराः । ते मासाक्षराः संबत्सराक्षराणामुपरि
 गता अमतो वा अथशिवतां इति । इत्येवु येवु वर्षाक्षरा मासाक्षरा मचन्ति । तेषां चार्षिक
 काषीः । अथजुषमासाक्षरस्य वर्षाक्षरं, समामिद्य तस्य भाद्रपदमासे । एवं मासक्रमः इत्य ।
 अनेन कामाख्या [१ ११ व २] मुक्तास-गमवापयन-वीनितमरण-उद्भाववचनितु संख्या
 क्रम्या प्रमाद्यरो अथ जादेशयः द्युध्याशिवेन निमित्ते(च)जातव(व)तेति ॥ २१५ ॥

॥ अथप्रकरण समाप्तम् ॥

लामचि(द्वि)मस्त लाम, यद्विज जइ उचरा हु अपमिहया ।

अहरेसु गतिष काहो, धे वि[व] अहराहरा चटरो ॥ २१६ ॥

[५० ११८, पा० १] अनभिहतोत्तराक्षरबहुले प्रश्ने प्रष्टुला(र्ला)भ आदेश्यः । अधराक्षराधिके नास्ति लाभः । येऽपि चाधराधरा[ः] चत्वारः स्वराः प्रागुक्ता[ः] तेऽप्यलाभकराः । 'आ ई ऐ औ' एतेष्वधिकेषु लाभो नास्तीति ॥ २१६ ॥

लब्भइ लहं(हुं) सजोणुत्तरेसु[प]रजोणि उत्तरे लाभं ।

लब्भइ विलंबियकाले, सपरिके(के)सं [५० ११८, पा० २] अहएसु ॥२१७॥ ६

उत्तरजीवाक्षरबहुले प्रश्ने अभिप्रेतमर्थ(र्थ) क्षिप्रं लभते स्वजना[त्], तैरेव जीवाक्षरै-
रधिकेषु प्रश्ने उत्तरधात्वक्षरमिश्रेषु उत्तरमूलाक्षरमिश्रेषु वा परश(स)काशाह्लाभो वाच्य(च्यः) ।
एयामेव जीवधातु-मूलाक्षरा[णा]मुत्तराणामधिकाना आलिङ्गिताभिधूमितानां चिरात् परिच्छेदो न
वाऽभिप्रेतार्थमर्थं प्राप्नोति । यतः कृ(कृ)तश्चिद(ह)ग्घेनैवास्ति लाभ इति ॥ २१७ ॥

जह चैव य अभिघाते, तह चैव य उत्तराहरेसुं पि ।

घातुस्सरा य चरिमा, [५० ११९, पा० १] सभावदीहा य अहरहरा ॥२१८॥

शुभाशुभ पृच्छतः अभिघातरा(ता)लिङ्गिताभिधूमितदग्धलक्षण उत्तराक्षरेणाधरेण आलि-
गितो(ते) वृत्कृष्टात् सकाशादल्पछेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरेणाभिधूमिते सत्यु-
त्कृष्टात् सकाशान्मध्यमछेशो भवति । प्रष्टुः उत्तराक्षरेणाधरो(रा)क्षरे दग्घे सत्युत्कृष्टात् सकाशान्म-
हाछेशो भवति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे आलिङ्गिते धर्मादल्पदुःखमवाप्नोति । अधराक्षरेणोत्तराक्षरे ॥
अभिधूमिते धर्म(र्मात् ?)मध्यम दुःखमवा[५० ११९, पा० २]प्नोति । अधराक्षरेण उत्तराक्षरे दग्घे
धर्मान्मह[द्]दुःखमवाप्नोति । एव शुभाशुभ पृच्छतो वाच्यम् । घातुस्वरौ द्वौ 'उ ऊ', चरिमौ
'अ अः', इ न्न ण न माः । स्वभावदीर्घास्त्रयः स्वराः 'ई ऐ औ' । इत्येतेषा मध्ये 'ई औ'
अधराधरो(रौ) चतुर्वर्गप्रतिबद्धत्वात् । एते दाह्या दहन्ति, न लाभं कुर्वन्त्यधिकाः प्रश्ने ।
दाह्य(ह्या)श्च पूर्वोक्ता एव ॥ २१८ ॥

अहरेसु अत्थि लाहौ, जइ उत्तरवंजणेण अणुवलिओ ।

अहरबलाणुबलेणं, पुणो(?) भणिज्ज लाभं तु णत्थि त्ति ॥ २१९ ॥

अह(घ)रेषु लाभः प्रतिबद्धः अपि वादार्थं भवत्यधरेषु लाभो यद्यु[५० १२०, पा० १]त्तरे-
ष्वनुबलिता भवन्ति । यदा त्वधराः अधरानुबलास्ता(स्त)दा नास्त्येव लाभ इति ॥ २१९ ॥

जइ अक्खरअणभिहया, पण्हे दंसीति उत्तरा लहुआ ।

तो भणसु रायलाभं, अहराहरसंजुए णत्थि ॥ २२० ॥

प्रश्नाया उत्तराः लघवः जीवाक्षराः अनभिहता शुद्धा यदा बहवः, तदा क्षत्रियस्य
राज्यार्थिनो राज्यलाभः । शेषवर्णाना यथास्वमर्थलाभो वाच्यः । योनिधि(वि)शेषाश्चाक्षराणां
तथा देश्यम् । 'अधराधर' इति अधरैः अधरस्वरयुक्तैर्नास्ति लाभ इति प्रागुक्तमेवेति ॥ २२० ॥

लाभंमि पढमदिट्ठे, [५० १२०, पा० २] तिविहं कालं तु निदिसे तस्स ।

अतिगतमेस्सं वट्टन्त पंचवग्गाणुमाणेणं ॥ २२१ ॥

लाभाधिकार एवायम्—लाभे प्रथम दृष्टे वृ(त्रि)विधे कालमतीतमनागत वर्चमान च ।
वर्गाणा परिणामेन निर्दिशेदित्येतत्सूत्रमुपरि गाथा(थ)या व्याख्यास्यति ॥ २२१ ॥

पठमत्तइया हु वग्गा, षट्ठे वित्त्तईअ(धियई)ओ अईअमि ।

सेसा वीप्पि वि वग्गा, कालमि अगामिय(य आगमि)स्तमि ॥ २२२ ॥

प्रथमवर्गाक्षरार्थ १ १२१ च १) वां क च त प व स्या नाम्, तृतीयवर्गाक्षरार्थं ग व व द व व सा नाम्, अन्वयवर्माधिके प्रभे वर्तमानकाव्यमवगच्छ । द्वितीयवर्गाक्षरार्थं स छ ठ व क र वा वास्यवर्माधिके अतीवकाव्यमवगच्छ । शेषवर्गाक्षरार्थं प झ ड प म व हा नाम् अथ व न मा नं वास्यवर्माधिके मविष्यत्काव्यमवगच्छ । यदुक्तं वर्तमानकाव्यधिके प्रभे प्रयुव(र्वा)र्तमानकाव्यो(ले) छमः । अतीवकाक्षरार्थ १ २२१ च १) बहुले प्रभे आसीका (अतीवका) मः । मविष्यत्काव्यधिके प्रभ मविष्यति छमः ॥ २२२ ॥

जा जस्त पुषमगिया, जोणी तस्तस्सराइ लस्सेज्जा ।

तस्सेव ववे लाम, वा पामिय गिहिसे तेण ॥ २२३ ॥

वा यस जीव-पाट्टमूकानां योमिदत्त एकाधिविधाया यो (योने) प्रजाक्षरार्थं यप्ते पत्ता जीवाक्षर अविद्य भवति तथा जीव इत्यत्र इति [१-१२२ च १) अथावा (तुर्वी) च्छम् । द्विपद बहुवचन वा अक्षरमुमानेन पूर्वोक्तमपैव इवम् । एवं पा(त्त)स्वक्षर तथा वदव[ः] तथा पातुं प्राप्त(प्प)तीति प्रयुवा(र्वा)च्चा । तथा मूकप्रथम-
मवाप्रोतीति वचम् ॥ २२३ ॥

तथा वचम् इति गाथात्परेणाह—

पण्हस्सरेसु पडमो, जारिसओ उरिसिज्ज जीवाइ ।

सारिसमस्त म लामो, धायाति य [१-१२२ च २] गिहिसे तेण ॥ २२४ ॥

वच्यैव गाथा ॥ २२४ ॥

पठमाइ धमणाणं, धीओ वग्गो ह्यइ वेसाणं ।

तइमो य स्वत्तियाण, सुहाणं सेसया वीप्पि ॥ २२५ ॥

प्रथमवर्गाक्षरार्थं क च ड व प व स्या नं अन्वयवर्माधिके प्रभे प्राद्वजस्यकाव्यमो(काम) अतीवका । द्वितीयवर्गाक्षरार्थं य छ ठ व क र वा नं अन्वयवर्माधिके प्रभे वैशवासा(का)यो वचम्प्या । तृतीयवर्गाक्षरार्थं ग व व द व व सा वास्यवर्माधिके प्रभे अविद्या(दा)मो वचम्प्या । शेषवर्गाक्षरार्थं प झ ड प म व हा नाम् वाहुत्वे तथा सूत्रा[ण] छामो वचम्प्य [१-१२३ च १] इति । अथ य न मा [र्थ] अन्वयवचहुले संस्तरजातीकावा(दा)भ इति । अस्मिन् जातीवका वत्ता वत्तं च इत्यम् ॥ २२५ ॥

अथे(प्ये)वि यणमिहया, षण्णिया (गिय ?) वग्गा(ण्णा ?)सवग्गासजुत्ता ।

अभिहयपरसंजुत्ता, णीया (गय) हीणाहियसमा मणिया ॥ २२६ ॥

अभिहयाः सर्वव्याख्या वाच्ये (हि)ये भवति । ता प्रमाधिके छामो भवति । ये पर पा(त्त)रमधिप्रति । क च ड व प व स्या [र्थ] इत्यप्येते । प झ ड व म व हा नाम् च ग व ड व व ड नै

रूपरिगतैभ(र्भे)षति । स्व[व]र्गसयोगः । तद्बहुले प्रभे लाभो भवति । ये परस्परमभिन्नंति । स चाभि[प० १२२, पा० २]घातस्त्रिविधः । आलिङ्गितादिकः पूर्वोक्तः । योऽसौ घृता तदभिघातेन वृन्मा(र्गाः ?) कदाचित्संख्यया हीना[ः] कदाचिर(द)धिका[ः] कदाचित्समा भवति(न्ति) । एकै(ते ?)न अभिम(ह)न्यंते(?) । हीने(?) फललाभ[ः] प्रभे समे ईपत्फल भवति । दृष्टैरधिकैस्व(अ) फलाभावः । एवमेति(मिः) शुद्धशेषैः शुभाशुभमध्यमादेश्यम् ॥ २२६ ॥

पढम-तद्दज्ज(जो) वग्गो, होइ [प० १२४, पा० १] सुही दुक्खिओ वी[य]-चउत्थे ।
पंचमए पुण वग्गो, सुह-दुक्खे(क्खं) मज्झिमं तस्स ॥ २२७ ॥

प्रथमवर्गः—क च ट त प य शाः । तृतीयो वर्गः—ग ज ड द व ल साः । एषामक्षराणां बाहुल्ये सुखविवक्षायां प्रष्टु[ः] सुखलाभो भविष्यति सुखावाप्ति(प्ति)रित्यर्थः । द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र याः । चतुर्थो—घ झ ढ व भ ष हाः । रे(ए)तेषा अक्षराणां बाहुल्ये प्रष्टादु(दुरु)त्पातो [प० १२४, पा० २] ॥ ज्ञेयः । दु(ठ)त्पा[ता]गमो वा भविष्यतीति । पंचमवर्गो—ड ष ण न मा ना । तेषु च [सुख]दुःख मध्यममवाप्नोति । एवमसौ सुख-दुःखी (खानि ?) वा तत्राप्ये(प्रो)ति येव(एवं) वाच्यम् ॥२२७॥

वीय-चउत्था वग्गा, दिट्ठा इच्छंति सुवहु आउं [च] ।

पंचमओ पुण वग्गो, ममि(ज्झि)मआउं सया इच्छे ॥ २२८ ॥

द्वितीयवर्गः—ख छ ठ थ फ र याः । चतुर्थः—घ झ ढ धा [प० १२५, पा० १] भ व हाः । एतेषाम-क्षराणां बाहुल्ये आयु[ः] पृच्छतः, आयु[ः] प्रच्छ(भू)त वक्तव्यम् । फलं लाभानि पृच्छति(तः) अल्पं वक्तव्यम् । पंचमवर्गाक्षरा[णां]—ड ष ण न मा ना बाहुल्ये मध्यमायुः पृच्छकस्य, लाभप्रभे मध्यमो लाभो वाच्यः ॥ २२८ ॥

उत्तरसरसंयु(जु)त्ता, सब्बे अप्पाउआ फलमुवेंति । [प० १२५, पा० २]

अहरस्सरसंजुत्ता, तुह (सुवहुं) इ(य)च्छंति ते आउं ॥ २२९ ॥

उत्तरस्वराः पूर्वोक्तास्तैः सयुक्ता उत्तराक्षराः प्रथम-तृतीयवर्गाद्याः । तद्बहुले प्रभे यदि लाभानि फलं पृच्छति तेषां प्रभूतं फलं भवति । येऽप्यायुः पृच्छति तेषामल्पमायुर्भवति(ती)-त्यादेश्यम् । त एवाधिका उत्तराक्षरा अधरस्वरयुक्ता आयुःप्रभे प्रभूतमायुः प्रयच्छंति । फल-प्रभे फलं चाल्पं लाभानि पृच्छति ॥ २२९ ॥

अहव विसण्णो आयुंमि होइ सुद्धेसु काइमाईसु ।

सत्तण्ह मेसममा(वसा?)दि सरसंजुत्तेसु विवज्जासो ॥ २३० ॥

पंचवर्गान्यायेन स(सा)मान्यतः फलं पृच्छकस्यायु[प० १२६, पा० १]ञ्चोक्त[म्] । अष्ट-वर्गान्यायेन लभसुत्पाद्य आयुर्विभागो नष्टविभागो नष्टजातकमिति वक्तव्यमिति । काथादि-सप्तवर्गेषु शुद्धेषु मेपादिशाशयः । सप्त कथं ? । प्रभाक्षरं गृह्य आद्यक्षरं त्यक्त्वा द्वितीये 'क' च ट त प य शा'धा(दि)वर्गाक्षराणां वर्गान्यतसं शुद्धमात्ररहितं यद् वर्गमध्यं याति दृष्टं स रासि(शि)-रुद्रयादिः । तत्र च वर्गे यदि (यत ?)मो वर्ण[ः] तति लिप्ता(कला ?) शोभ्या । पढस(श)को वर्णः । वर्णोः पदूलाः सो(शो)भ्याः । सुन्यमानस्व वर्णप्रमाणेन पदूलाः शोभ्याः । पदू(प्रव ?)र्गत्वं पंचमो रेफः, स-
नि० शा० ७

प्रथम-तृतीय[५० १२९, पा० २]वर्गाक्षराधिके सस्यनिष्पत्तिः उत्कृष्टा । द्वितीयवर्गाक्ष-
राधिके मध्यमा सस्यनिष्पत्तिः । चतुर्थवर्गाक्षराधिके स्लोकं निष्पद्यते । पचमवर्गाक्षराधिके स्लोक-
मपि नास्ति सस्यम् ॥ २३३ ॥

पढम-तइयंमि वग्गे, सइत्तर्णं तह य वीयए असई ।

चउत्थ-पंचमए वग्गंमि(ग्गे) णत्थि सइ चिय णायवा ॥ २३४ ॥

प्रथम-तृतीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने महती सती ज्ञेया । द्वितीयवर्गाक्षराधिके प्रश्ने मध्यमा
सती ज्ञेया । चतुर्थ-पचमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सतीरेव नास्तीति निष्पत्त्यभावात् ॥ २३४ ॥

॥ वर्गस्य [५० १३०, पा० १] गंडिका समाप्ता ॥

आदा पुस्तो [य] महा, हत्यो चित्ता तहेव [साई य] ।

जिह्वा [मू]लो एए, इ(दु)अक्खरा अट्ट नक्खत्ता ॥ २३५ ॥

आर्द्रा-पुण्य-मघा-हस्त-चित्रा-स्वाति-ज्येष्ठा-मूला अष्टौ रे(ह्य)क्षराणि नक्षत्राणि ज्ञातव्यानि ॥

अस्सिणि भरणि तह(य) किच्चिय, रोहिणि फणिदेवया विसाहा य ।

रेवय सवण धणिह्वा, तिअक(क्ख)रा णव उ नक्खत्ता ॥ २३६ ॥

अश्विनी-भरणि-कृत्तिका-रोहिणी-अश्लेषा-[विशाखा]-श्रवण-धरि(नि)ष्ठा-रेवत्य इति नव-
नक्षत्राणि अ(त्र्य)क्षराणीति ॥ २३६ ॥ [५० १३०, पा० २]

मिगसिर पुणव(व)सु विच्चि, पुवासाटाणुराधजलदेवा ।

एए पंच वि र(रि)क्खा, चउरक्खरनामया भणिया ॥ २३७ ॥

मृगसि(शि)रः पुनर्वसुः पूर्वाषाढा अनुराधा शतभिषा एतानि पच नक्षत्राणि [चतुर-
क्षरनामकानि भणितानी]ति ॥ २३७ ॥

भृगदेवा दगदेवा, रिक्खा पंचक्खरा दुवे एते ।

अष्ट(ज्ज)म-विस्सा छकं, सत्तक्खवि(रि)याहिवुद्धी(वन्धु?)या ॥ २३८ ॥

पूर्वाफाल्गुनी उत्तराषाढा द्वे एते उभाव(भेऽ)पि पचाक्षरौ(रे) । अर्यमदेवता-उत्तराफाल्गुनी,
विश्वदेवता-पूर्वाभाद्रपदौ एवौ पढक्षरौ । अहिवन्धुः उत्तराभाद्रपदा सप्ताक्षरा ॥ २३८ ॥

दो[अ]क्खरमादीणं, णक्खत्तग(त्ता?)णं [कमेण ?] ठावेउं ।

पण्हाइमसंखाए, [५० १३१, पा० १] णक्खत्तगणं वियाणाहि ॥ २३९ ॥

ह्यक्षरादीना नक्षत्राणा सरा(सा)क्षरपर्यन्ताना क्रमेण स्थापयित्वा प्रश्नाक्षराणां आद्यक्षर-
सख्ययाऽभिधातव्यद्वया नक्षत्रगणमध्या नक्षत्रगण जानीहि । ह्यक्षर त्र्यक्षर चतुरक्षरं पंचाक्षरं
षडक्षर सप्ताक्षर चेति ॥ २३९ ॥

अन्येषामप्यक्षराणा एवमेव क्रमो ज्ञेयः । व्यामिश्रास्तु सयुक्ताक्षराणां यत्र यत्र पतिता आत्म-
वर्गं लभते(न्ते) । तेषां संयुक्ताक्षराणां क आत्मवर्गं लभते ? किं योऽवस्तान् आहोर्ध्विदु-
परिहृष्टः ? । [प० १३५, पा० २] उच्यते - योऽभायु(वृ)पचा(र्षे)क्षरः । प्रभे पूर्वाक्षरौ यदा द्वावु-
त्तरौ भवतः, मात्रारहितौ असयुक्तौ चेति । तदा द्वितीयोऽक्षर आत्मीयं वर्गं लभते ॥ २४२ ॥

अ च त य वग्गा उत्तर-करण च हवद्दि [जइ?] चउ व[ग्ग]स्त ।
होद्दि कमेण कट प शा, चदुरा णीपं(यं) च णाद्वं ॥ २४३ ॥

‘अ च त या’ना चतुर्णामक्षराणां बाहुन्ये(न्य) यदा प्रभे भवि(व)लभिहि(ह)तानां तदा
चिंताया उत्तमकार्यं पृच्छतीत्यादेश्यम् । लाभप्रभे उत्तमो भवतीति याच्यम्(च्य) अ(प्र?)ष्टा ।
‘क ट प शा’ना चतुर्णामक्षरा[प० १३५, पा० १]णां प्राचुर्यं यदा प्रधाक्षरेषु दृश्यते अनभिहतानां
तदा चिंताया नीचकार्यं पृच्छतीति वक्तव्यम् प्रष्टा । लाभप्रभेऽल्पलाभस्ते भविष्यतीति ॥
वक्तव्यम् । ‘अ च त या’ उत्तरकरणसन्नकम् । ‘क ट प शा’ अघरकरणसन्नकम् ॥ २४३ ॥

संजुक्तमसंजुक्तं, आलिंगियमादियं अ क च टा दी ।

उच्चारिज्जदि कमसो, अणुपुवीए करणमेदं ॥ २४४ ॥

प्रभे येऽक्षरास्ते सयुक्ता [असयुक्ता] वा आलिंगिता [अ] मिथूनिता तथा वा, अ क च ट
त प [च] शा येऽक्षराः पचचत्वारिंशत् [प० १३५, पा० २] तेषां क्रमोच्चारण आनुपूर्वीति भण्यन्ते(ति) । १५
आनुपूर्वीक्रम उच्यते । ‘अ क च टा’दीनामष्टानां वर्गाणां क्रमोच्चारणं आनुपूर्वीक्रम उच्यते । विप-
र्यासोच्चारणं आनानुपूर्वीकरणमिति । ण्तावानेव, नात्र कश्चिद् विशेषः । प्राप्तिस्तु वर्गाणां
अन्यतःका(न्यका?) रिकयोच्यते ॥ २४४ ॥

[पठ]अं(म?)तिल्लचउक्के त प य श वग्गे वि पावए जेण ।

एवं अना[णु]पुवीकरणं छट्टं मुणेयवं ॥ २४५ ॥

प्रथमवर्गस्य ‘अ क[प० १३५, पा० १] च ट त प य शा’त्यस्य अन्य(न्या)क्षराश्चत्वारः ‘त प
य शा’ एते यथा प्राप्नुवन्ति वर्गाणां तथा वर्णद्वय(यि)ग्राम्युपरिष्ठा[त्] । यथा तद्वर्गाः(र्गाः)
विलोम्येन आनानुपूर्व्यां प्राप्नुवन्ति । वर्गाः-कवर्गः चवर्गः टवर्गः शवर्गं सि(इ)ति । अनानु-
पूर्व्यां पठं करणं ज्ञेयमिति । अ क च ट त प य शा इत्यत्र पूर्वा-‘त प य शा’ इत्येनानुपूर्वीक्रम
इत्यर्थः । एषामेव विपर्ययोच्चारणं अन्योन्य(णानु)पूर्वी [क्रमः] । प्राप्ति(पश्चात्?)क्रम इत्यर्थः । २५
[प० १३६, पा० २] पच करारण्य(करणानि प्र?)तीतानि । वृ(त्रि)पुत्रेषु वर्गः प्रथमकरणम् । एवं
वृ(त्रि)पुत्रेषु द्वितीयम् । उभयत्र उत्तरौ द्वौ तृतीयम् । घ(ए)केन चतुर्थं लभ्यते चतुर्थकरणम् ।
व्यामिश्रेयु(वृ)कैरेको वर्गः लभ्यत इति पचम करणम् । यदा व्यामिश्र एकेन चतुर्थमस्मात्तर्गवं
चतुर्थोऽयं भेदः । आनुपूर्वीं उच्चारणकरणं पंचमम् । अनानुपूर्वीं पठं करणमिति ॥ २४५ ॥

अणभिहृदा संजुक्ता, पठमं पावंति अप्पणो [प० १३५, पा० १] वर्गां ।

आलिंगिया य तत्तो, हसन्ति एक्केक्यं ठाणं ॥ २४६ ॥

उत्तरा अनभिहृता येऽक्षराः । प्रश्नादौ अन्यतमेऽप्रतो वा त एवासंयुक्ती(का) यदा दृश्यन्ते
तदा ते प्रथमवर्गाः स(स्)वर्गं प्राप्नुवन्ति । यदा त्वालिंगिता असयुक्ताश्च तदा एकम्यानह्रासेन ह्रसे

(इत्सं ?) प्राप्नुवति । निरसनम्-[कञ्जः] यकारेणाङ्गिगितकारं प्राप्नुव(प्रो)ति । एवं वकारः इ(ङी)कारेणाङ्गिगितः इ(ङ)कारं प्राप्नुव(प्रो)ति । तथा गकारो [१ १२० च २] यकारेणामिभूमिः अकारं प्राप्नुव(प्रो)ति । अकारः इकारेणामिभूमिः इकारं प्राप्नोति । एवं यकारो इ(ङी)कारेण यः अकारं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि [यगा]हराः संपुच्छा द्वितीयादिबर्गं प्राप्नुवति । द्वितीयादिबर्गमेव द्वितीयेऽपर इच्छते । ए एव संपुच्छा अङ्गिगिताः स्वान् इव इति [वृत्त्या] देव्या दृष्टीयं स्वान् इवर्गं प्राप्नो(मुच)ति । एवं गकारोऽपि संपुच्छे यःऽऽङ्गिगते तथा [१ ११ च १] दृष्टीयं वर्गं प्राप्नोति । एवं संपुच्छमिभूमिवाच्युर्गो(र्वम् ?) यथाः पंचमिति ॥ २४६ ॥

सहाणमुर्वेति वृत्ता, धृषीस एत्थं होति सयो(जो)भा ।

इत्सा य सति कमसो, अटमगाक्रमेण ण्केच ॥ २४७ ॥

॥ इत्सा[म]मुच(मुचव ?)ति यथाः । एतन्न सरा(मा)हरतयागोया(ना)ङ्गिगितामिभूमिगवसंयोगेण च द्वारिस(सन्)संयोगा मचमि । एतुपरि विर्वर्षमिप्यति । अतो यगा संपुच्छिगितरुवामिभूमिवा इत्येते अनुमिर्विर्वर्ष ११८ च २]नेर्मुनिवा इत्सं(सि)ह मचमि(मि) । द्विच्य(इति)येऽहराते आङ्गिगिताले द्वितीयं स्वानं प्राप्नुवति । अमिभूमिवा[ः] दृष्टीयम् यथा[ः] अनुर्वं स्वानं प्राप्नुवति । एतन्न निर्वर्षेण पूर्वकेपा(वी) र्वितमिमे(व वी)चम् । अन्तरम्य-
० आनुसारेणास्वयमर्थः-‘इत्सा इति कमसो’ अनुर्वर्गक्रमेणैति एवेवं वर्गं प्राप्नुवति । संयोगस्य [१ ११५ च १] च प्रकृतत्वात् ‘अ इ ए ओ’ एते चत्वाः इत्यमरमेव सप्त गृह्यन्ते । एतन्न अकारः प्रभाती अन्त्यत्र वा निरपहृत्य अन्तरमिच प्राप्नोति । अकारोपरिगत इकारः अकारं प्राप्नोति । यकारोपरिगत यकारः[ः] यकारं प्राप्नोति । टकारोपरिगतः ओकारः टकारं प्राप्नोति ॥ २४७ ॥

धितिय-अटत्यो पचम-उट्टो अण्येसु छहृदि [१ ११५ च २] आदेसा ।

॥ समदि अ अरिम अट्टो, सकारमादीस(सु?) ण्केच ॥ २४८ ॥

द्वितीय आकारः अनुर्व ईकारः पंचम [इकारः, वृ] इकारः । एते चत्वाः सप्त अन्त्यबर्गं इत्यप्यानुपरि प्राप्नुवति । के ते अन्त्यबर्गाः ? ‘य य य या’ । एतन्न अकारोपरिगत आकार[ः] टकारं छमते । यकारोपरिगत ईकारः यकारं छमते [१ १ ५] सु(व)कार यकारेण युक्तः य(वी)वर्गं छमते । अकार इकारेण युक्तः अकारं प्राप्नोति । इकारपरिमत्तत्रापीति
॥ ‘य य य या’ अनु(त्वा)रोऽपि अरियसंज्ञाः । अथ यथामि(यामिन्) अनुके(के) इत्यनान् अण्वानां संयोगेन चत्वाः प्राप्नोति(यामि)चत्वा ॥ २४८ ॥

अणुवलििया लिह्वा वा, जुषा पुत्रावरेण ण्केच ।

एम् सराण गिवेदे(सो), ककारमादी[सु] त(व)ण्येसु ॥ २४९ ॥

अणुवलिक्कप् आङ्गिगितानि(वी) । अणुवलिक्का द्विचिवा-इत्तान(प्र)वलिक्का अचट-
॥ अणुवलिक्का । एतन्न अचटपर अचटलसंपुच्छ अचटान(प्र)वलिक्का(वच्यः ?) । अचटसंबंधिनेन स्तरेणाचटो पुच्छमिभूते च वर्गो [१ १ ५] इत्तान(प्र)वलिक्का(वच्यः) इत्येते । अणुवलिक्का अचटपरिगत मन्थे त्व(व)र्गं अचटपरं प्राप्नोति । अचटपरोऽन्तरकाणुच्छे अचटवलिक्का-संज्ञाः । अचटसंबंधि(वि ?)नेन स्तरेणाचटो पुच्छमिभूते च वर्गो अचटवलिक्का(वच्यः) इत्येते ।

स्वराणामपि मध्ये तन्नेय स्वरमुत्तरं(मधरं) प्राप्नोति । उत्तराक्षरोऽप्यधरस्वरयुक्तौधर.....

..† भिधून्यते म द्वितीयवर्ग-
मवाप्नोति । निदर्शनम्—ककारोऽभिधूमितः रकारेण [च]वर्गं प्राप्नोति । रकारोऽभिधूमितो
धकारेण लवर्गं प्राप्नोति । गकारोऽभिधूमितो धकारेण जवर्गं प्राप्नोति । ककारो दग्धः ढकारेण
ढवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽन्यक्षरा[०] पूर्वाभिहि[५० १४१, पा० २] त्विस्वरक्रमेण द्रष्टव्या[ः] । ये
सयुक्ताक्षरास्त्रेषामुपरि योऽक्षरः स स(स्व)वर्गाक्षरं लभते । उत्तरः उत्तराक्षरमधरोऽप्यधराक्षर-
मवाप्नोति । एष स्वरनिवेशक(शः) सकारादिषु हकारान्तेष्वक्षरे[पु] आर्लिगिताभिधूमितदग्धलक्षण
उक्तः । ह्रस्वा लभते । आदिचतुष्क्रम—अकारप्रभृतयः । [५० १४२, पा० १]अन्त्यचतुष्कं प्राप्नो-
मुव)ति साभ्यां (१ सान्त्वं) वर्गं लभन्त इति ॥२४९॥ अस्वैवार्थस्वातिदेशार्थं फारिकान्तरमाह—

जह चेव सरवसेसो (विभागो ?), ककारमादीसु धं(वं)जणेषुं पि । ॥

एमेव [वि] रई(इ)यवो, णिरंतरं जाव [उ] हकारो ॥ २५० ॥

एवमेव कर्तव्यो निरतर ककारादारभ्य चावम् हकार इत्येव वर्गलब्धयर्थं स्वरविभागो
विज्ञातव्यो व्यंजनेषु । अयमर्थः पूर्वगाययाऽभिहित इति नोक्तः ॥ २५० ॥ [५० १४२, पा० २]
एवं अनानुपूर्वो(र्वी)प्रपचेन पठं प्र(?)करणम् ॥

जो य सराण विभागं, देसेदि य सत्तमो य सो करणो । ॥

एमेव वंजणाणं, विभावणो अट्टमो होति ॥ २५१ ॥

उक्तार्थतिदेशार्थं गाथेय पठिता । पष्ठमुक्तमनानुपूर्वीकरणम् । अनन्तर स्वरयोगाद्द्वर्ग-
लब्धिदृक्ता । असौ स्वरविभागो नाम सप्तमं करणम् । सयुक्तासयुक्त्विकल्पेन वर्गप्राप्तिरित्यष्टम
व्यंजन्विभागो नाम प्र(?)करणम् ॥ २५१ ॥

दंसेति सव[ग्ग]क्त्वर-संजोगं [५० १४३, पा० १] जो य सो हवे णवमो । ॥

परवग्गक्त्वरसंजोयं, दंसेदि य दसमओ करणे ॥ २५२ ॥

स्ववर्गाक्षरसयोगेन नवमं करणम् । इत् यथा भवति तथा पूर्वमुक्तम् । परवर्गाक्षर-
संयोगा[त्] दशमं करणम् । परवर्गाक्षरसयोगोऽपि पूर्वाभिह(हि)त एव । अनयोः करणयो-
र्यथाक्षरलाभ[ः] तयोपरि वर्णयिष्यामः ॥ २५२ ॥

अह उत्तराणुवलिया, हस्सा उ लहंति हस्समन(ञ)यरं । ॥

अहरेणऽवि हम्मंता,[५० १४३, पा० २] तेसि चिय वग्गमणायरं ॥ २५३ ॥

अधराक्षरा उत्तराक्षरैरालिगिता ह्रस्ववर्गं अन्य लभन्ते । निदर्शनं यथा—रकारः ककारे-
णालिगितो दग्धः ऋवर्गं प्राप्नोति, तस्मिञ्चोत्तराक्षरम् । एवमन्ये(न्य)वर्गोभ्योऽक्षराः प्राप्नुवन्ति ।
उत्तराक्षरा अधराक्षरे[ण]अभिहन्यमाना लब्धवर्गोऽधराक्षर प्राप्नुवन्ति । यथा ककारः रकारेणा-
लिगित[ः] चर्चो अधराक्षर प्राप्नोति, अधरानुषलितत्वात् । अथवा चान्या गाथाया अन्यथा
[५० १४४, पा० १]न्याख्यानम्—अधरस्वरा उत्तरैर्ह्रस्वैः स्वरैरनुवल्लिता ह्रस्वस्वरमेवान्यतम लभन्ते ।

अनुबन्धितमेव कम्प(म)न्ते (१) अथर इत्याः(१) 'अ इ ए अ' इत्येते अचरेण स्वरेणामिहन्वत्या
अचरमेव स्वरं अनुबन्धितमिति मन्त(म्) इति ॥ २५३ ॥

एव अहर चठके, आइहो पच्छिमो व एमव ।

चठ तिय एहं कमसो, इस्तेसु हर्षति आदेसा ॥ २५४ ॥

- १ अनानुपूर्वीर्मग(मी)कम्प अमरचतुष्टये 'क ट प क्षा' चत्वारः आद्या मन्वन्ते [१ १०५ व १]
अथवा पश्चाद्मन्तीति वक्षिणाः कटपक्षाः । कक्षाया अक्षरवर्माद्य(स्य) एषिमो
भवति । एवं मै(के)कम् । एतदन्वयमात्रिके प्रमे मन्वमकाम आदेश्यः । 'अ च ट वा' आद्याः ।
उत्तराः तदन्वयमात्रिके प्रमे कटपक्षकाम आदेश्यः । एषां 'अ च ट वा'नां मध्ये अकार-
चकारविके प्रमे कटपक्षो काम आदेश्यः । एषां(सं) 'क ट प क्षा'नां मध्ये अक्षर-चकारविके
२ प्रमे अथमकाम आदेश्यः ॥ २५४ ॥

अह चैव सरनिषेसो, मणिभो तह चैव वज्रणेसुं ति ।

पमेव [वि]रह्यद्यो, गिरंतर जाव उ हकारो ॥ २५५ ॥

- अथवाऽन्(सा)गावावा विकारेण अरर्ष्यजनर्षि(१-१०५, व १)मानोवास्तरेत्यादने प्र-
कारचतुष्टय पंचवर्गपि तत्र प्रथमतरं ववा-विर्षन् चतुर्वैद्यपुत्रकामि कर्षं [१] व व ।
१ एवं विरह्याधरन्त्यासा-अ आ इ ई व ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । अ । प्रथमेया प्रथमा पंक्तिः । इ
क का कि की कु कू के के को कौ कः । व । प्रथमावा अवा द्वितीया । व । व वा वि वी वु
वू वे वै वो वी वं वा । एतीया । उ । उ वा उी उू उे उै उो उी उं उः । एवये । चतुर्थी । ए ।
एी एु एे वै वी वी उं उः । एता सि । व । पंचमी । ए । पुपू पे पे वी वी पं पः । व वा वि वी । उ ।
वही । ओ । पुवू वे वै वो वी वं वा । व वा वि वी । ए । सप्तमी । औ । [१ १०५, व १]
२ ऐ ऐ औ औ ऋ ऋः । ऋ ऋा रि री रु रुः । अहयी । अं अः ओ औ म् ए ऊ इ ई इ वा अ । इ ।
अवयी । एवमेवा मव पंक्त्या अयोऽथा स्यात्याः । एवं एवा पंचवर्गेषु वर्णितलाहृत्स्वेषु-
पृष्ठकठककरव । ग क ख द ड व ङ स । प ह ङ ष म ष ह । इत्येते अमेवाहृत्स्व पंचवर्गी[वाः] ।
पंचप्रकारा वर्णनीयाः । एकेव भिन्नत्वात्(एते जा)त्तो अक्षरं दृष्ट्वा प्रकारे वरा(ए)वर्णोन्वाधरवच
मासिः विद्या(के)च, इति । कर्षं [१ १०५ वा १] प्रकारी कर्षोवर्णिसमाधा(वी)मक्षरमवर्णोन्व
३ कर्षुंमात्रे कर्षुगण्याधरं पृष्ठये । ववा गौरिसमिन् दृष्टे अपरिच्छाद् अरत्संभवा प्रमे अवाथ अवाथं
वक्षमस वक्षमक [अ] वरत्सानी कक्षरस्य गव्यसिद्धिचक्रयो ववा-सो, के, ए ऐ ओ औ
अं अः इत्यादि । एवं विरेम विपर्ववा । अय(वा) यात्रयावलाङ्गमाः । त्रिवैद्व्यरवहृत्स्वयोगतो
छायो वच्छव इति । "सो व उत्तर[१ १ ५ व १] विद्यां ईतेदी" टीला(सो) गावालाविसमणे
४ वर्णतो(सिंघा) । पूर्वक प्रसारण विविदिष्टेयव क्तिरवते- विर्वैव(ए) इत्यस्य पुरासि कर्षुंवातो
५ (मही) इहव्यतीति । म्वासा-अ आ इ ई व ऊ ए ऐ ओ औ अं अः । प्रथमा पंक्तिः । अजावलात्-
क का कि की कु कू के के को कौ कः । [१ १०५ व १] । क । एवा द्वितीया । अजावलात्-वि वी
वु वू वे वै वो वी वं वा । व वा । अजावलात्-टी उ उू उे उै उो उी उं उः । [एता सि] । अजावा-
तु वू वे वै वा वी वं वा । एता सि टी । अजावलात्-पू पे पे वी वी पं पः । व वा वि वी तु । अजाव-
लात्-वे वै वो वी वं वा, व वा वि वी पु पू । अजावलात्-री रो कौ ऋं ऋः । [१ १०५ व १]

[शशाशिशीशुशुशे] एवं विरच्य(च्चा)क्षरग्रहणं सिंघा(हा)वलोकित-गजविलु(लि)तकरण-
द्वयन्यासेन ऊर्द्धाधस्तिर्यद्मात्राकल्पनयाऽक्षरत्रयस्य पूर्ववत् । एवं पंच प्रस्तारान्या(ण्या)लिख्य-
(ख)नीयानि 'क ख ग घा' इत्यादिभिरपि वर्गेरिति ॥ एवं स्वरविभागो दर्शितः ॥ २५५ ॥

“एमेव वज्रणाण, विभावणो अट्टमो करणो” ॥ [प० १४८, पा० १] म च प्रथमस्वरपंक्तिरहितो
लिख्यते—अत्रापि पचवर्गीये पंचैव शेषक्रमः समानाक्षरग्रहणं चेति “दंसेति सवर्गवस्वर-सजोअ”
गाथा । स्ववर्गाक्षर सयोगकरणमुपरिष्ठाद् ग्रन्थेनैवाभिधास्यति । लभते फकारो गुरुः । कोऽसौ ?
स(ख)वर्गमित्यादिना इति । “परवर्गवस्वर” इति । तत्र सयोगोऽनेकधा [प० १४८, पा० २] स्ववर्ग-
संयोगः, परवर्गसंयोगः, अद्वाक्रान्तसंयोगमि(ग इ)ति । अत्रैव फकारो लभत इति दर्शयिष्यति ।

एगादीया कमसो, एक्कोत्तरवङ्गिया मुणेयवा ।

अधरेसु य आदेसा, एस समत्तो सरविभागो ॥ २५६ ॥

इदानीं प्रागुपन्यस्तसप्तमस्वरविभागकरणचक्रत्रयतिरिक्तविशेषाक्षरोपलब्ध्यर्थमाह—‘एका-
(गा)दीया’ इति । य एते द्वादश स्वराः । एते एकादिका एकोत्तरद्वयाश्च(च) । स्थापना अत्र ।
[प० १४९, पा० १] अपरे आ(चा)देशाः । अक्षरलघ्विधरादेशः । वर्गलघ्विर्वा । न केवलमधर-
स्वरेपूत्तरस्वरेषु च । कथं ? अकारः प्रश्नादी अनभिहृतासयुक्त अकारवच(थरश्च?) नवसख्यो-
(ख्या)फाकार भित्त्वा अकार अष्टाप्रगमे फकारमेव लभते । तन्मध्ये उकारः पंचसख्यः तवर्गं
लभते । एव आकार(रो) द्विसख्यचकार लभते । अधस्तादशमं भित्त्वा अष्टाच(प)गमे च
फकारमेव । मध्ये तु ऊकारी(र.) पद्(ष्ठ)पवर्गं लभते । एव त्रयाणा [प० १४९, पा० २] त्रयाणां
प्राप्तिर्दृष्टव्या । एव स्वरविभागः । उक्तः सप्तमप्रस्तारः प्रपचेनेति ॥ २५६ ॥

उत्तरसु(स)राणुवलिओ, लहइ ककारो ककारमेवन्नं ।

अहरभिहओ खकारं, सेसा पुवावरेणेकं ॥ २५७ ॥

यदुक्तमादौ व्यजनविभागाष्टमः करणमिति । तस्मादय लघुतरः प्रयोगः । उत्तरस्वराः,
के ? ‘अ इ ए उ’ एषामन्यतमाना फकारो युक्तः कवर्गे उत्तराक्षर प्राप्नोति उत्तरानुवलितत्वात् ।
एवमन्येऽप्युत्तराक्षरा अत्रभिहि(ह)ता उत्तरस्वरयुक्ता उत्तराक्षर स्वर्गे लभते । अधरस्वराः, के
‘आ ई ऐ ओ’ इत्ये[प० १५०, पा० १]तेषामन्यतमेन फकारो युक्तः चवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति ।
शेषाः पूर्वाक्षरेणैक लभन्ति । उत्तरानुवलितो(तः) अधरानुवलित इति पूर्वापरमुच्यते । एवम-
न्येऽप्यक्षरा द्रष्टव्याः ॥ २५७ ॥

॥ व्यंजनविभागोऽष्टमः समाप्तः ॥

धीओ पढमेण समं, गुरुओ चत्तारिमो तइजेण ।

सेसा सकायगरुया, वग्गे वग्गे भवे तिण्णि ॥ २५८ ॥

द्वितीयोऽक्षरः प्रथमेन [प० १५०, पा० २] युक्तो गुरुर्भवति । यथा ‘फ(क्ख)’ । चतुर्थोऽक्षर-
ष्टृतीयाक्षरेण युक्तो गुरुको यथा ‘ग्घ’ इति । शेषाः स्वकायगुरुणा(काः) ‘वग्गे वग्गे हवइ’ तिण्णि
वर्गे वर्गे त्रयस्त्रयो(य.) ‘फ ग्ग इ’ इत्येव क्रमः प्रतिवर्गे द्रष्टव्यः ॥ २५८ ॥

अणुणासिया य जुज्जइ, आदिल्लचउक्कए सवग्गरस ।

सत्तट्टमो य कमसो, सक्का(का)यगरुआ मुणेयवा ॥ २५९ ॥

औ' इत्येतेदी(तैर्दी)र्वस्वरैश्चतुर्भिर्युक्ताः 'क च ट त प य शा' धाः पंच वर्गा गजविलुलितन्यायेन आत्मनोव(ऽध)स्ताद्यः अक्षरोऽनन्तरः त प्राप्नुवन्ति । निर्देशन च - ककारो ह्रस्वस्वरयुक्तः अकारं प्राप्नोति । चकारोऽपि ककारं प्राप्नोति । एवं सर्वत्र सिंहावलोकितन्यायेन द्रष्टव्यम् । दीर्घस्वरयुक्तः ककारश्चकार प्राप्नोति । चकारो दीर्घस्वरयुक्तः टकार प्राप्नोति । टकारोऽपि [तकार प्राप्नोति ।] तकारोऽपि [पकार] प्राप्नोत्येवं पंचवर्गप्रतिघट्टाक्षरा [प० १५४, पा० २] गजविलुलितन्यायेन ६ द्रष्टव्य(व्या) इति ॥ २६२ ॥

पत्तो वि परं टाणं, आइल्लं यं पुणो पलोएइ ।

सिंहावलोकितकरणं, एयारसमं मुण्येयव्वं ॥ २६३ ॥

प्राप्नोति(प्तोऽपि) पर स्थानं तस्मात्परस्थानात् पूर्वं यस्मादालोकयति तथाभिहितं सिंहावलोकितकरणं एकादशमं भवति । सिंहात्प्रतिक्रान्त पश्यतीति ॥ २६३ ॥ 10

॥ सिंहावलोकितकरणं समाप्तम् ॥ [प० १५५, पा० १]

लोएइ पुव्वभणियं, करणो गयविलुलिओ महा भणियो ।

सूरकरविपर(पवि?)ट्टो, गउ व सरपाणियं सरए ॥ २६४ ॥

लोलयति पूर्वोक्त गजविलुलितमहाकरणोऽग्रिम अक्षर पश्यति स्व(सू)रकाराहतो गज इव सरसिकाल(शरत्काल?) इव अग्रिममक्षर पश्यति । लोलयत्यन्विपतीति वाक्यार्थः ॥ २६४ ॥ 15

चत्तारि मूलवत्थुणि, वहं(हवं)ति म(ग)यविलुलियस्स करणस्स ।

सरवज्जणेण [प० १५५, पा० २] कमसो, सवग्ग-परवग्गजोए य ॥ २६५ ॥

चत्वारि मूलवस्तूनि भवन्ति गजविलुलिवस्य करण[स्य] । स्वरवस्तु, व्यञ्जनवस्तु । व्यञ्जनान्यक्षराणि । स्ववर्गसयोगवस्तु, परवर्गसयोग[व]स्त्विति ॥ २६५ ॥

तत्थ सरवत्थु तिविहो, संकड-वियडा य मीसया चेव । 20

पढमाण विवि(ति)य तहि(इ?)या, चरिमाणं आदिमा पक्खा ॥ २६६ ॥

तत्र स्वरवस्तु त्रिविधः । सकट, [प० १५६, पा० १] विकटं, सकटविकटं चेति । प्रथमाः 'क च ट त प य शा'सै(र्दि)तीयाना 'स छ ठ थ फ र पा'णामुपरिगतैः सयोग । 'ग ज ङ द ध ल सा' 'घ ङ ढ ध भ व हा'नामुपरिगतैस्व(तैश्च)सयोग । चरिमा 'ड व ण न मा'सैः सर्वेषामेवाक्षराणा उपरिगतैः सयोगश्चेति सूत्रम् ॥ अथवाऽस्या गाथाया अन्यथा व्याख्या कृ(कि)यत्ते- 25 "तस्य सरवत्थु[प० १५६, पा० २] तिविहो" इति । सकटा 'अ इ ए उ अ' । विकटाः 'आ ई ऊ अः' । सकट-विकटाः 'ओ ऐ औ' । पचवर्गीयो(या) वर्गा अपि । प्रथम-द्वितीयौ सकटौ । द्वितीय-चतुर्थौ विकटौ । पचमः सकट-विकट इति ॥ 'पढमा विदियाण चरिमा' इत्यत्र स्वरेषु प्रथम-द्वितीयौ 'अ आ', चरिमौ 'अ अ' । एपा तुल्यता । कथं ? अकारस्य अनुस्वारः सपक्षत्वात् सकट एव भवति । अकार-विसर्जनीयौ द्वादशमः स्वपक्षः, अतो विकटोऽयम् । सपक्षता परस्पर मैत्री- 30 भाव इति ॥ २६६ ॥

आइह्याण वोण्ट, सवे वि सरा ह्यति सरिपक्त्वा । [१ १५ व १]

पचम-वचत्य-गबमा, होइ(हो)ति इकारस्त सरपक्त्वा ॥ २६७ ॥

भायो हो लयो 'अ' लयो। सर्वे कटाः भवति मित्रानि । पंचम वचत्, चतुर्थ
इकार, त्रयम लोकार । इत्येते प्रथ इकारस्त मित्रानि ॥ २६७ ॥

अहुम-वसमा वोणि वि, एते सप्तमसरस्त सरिपक्त्वा ।

एकारस्त-वारसमा, छट्टो ह्यति उकारसरिपक्त्वो(क्त्वा) ॥ २६८ ॥

अहुम देकारः इक्षम औकारः । इत्येते द्वौ सप्तमसरस्त एकारस्त मित्रानि । एकारस्त-
स्त ['अ', इवचमकार] 'अ' वचत्तर लो(क)कार । एते अ(व) वचत्तर मित्रानि ।

ऐकारौकाराण, दुविहा [१ १५० व १] द्विती उ होइ नायदा ।

जइ उचराणुषलिमा, लहति तो संकडा एवे ॥ २६९ ॥

देकारस्त औकारस्त च द्विविधा संज्ञा संज्ञ(टा) विज्ञा वेति । प्रचोदनुपरिज्ञा
ह्यति । 'अ इ ए व इत्येते कटास्तत्कारः संज्ञसंज्ञाः । एतेषुपरि(रि)गतेः 'अ व च ट व प च झ ञ षाः
पंचवर्गास्तत्कारः संज्ञसंज्ञा भवति । एतेरेव संज्ञसंज्ञ(र) [१ १५ व १] सुंज्ञानां अक्षरानां
विद्यमानामिपत्ते क्षोभिते सति योऽक्षर वच्यते संज्ञविधिना अक्षर इति संज्ञ

संज्ञा ॥ २६९ ॥

अक्षरबलेण य वियदा, उचरमहरेण मिस्तया होति ।

अहुरुत्तरेण नि(रि)प्तेस, लक्ष्सेअ यलावलपितेसं ॥ २७ ॥

'आ ई औ' इत्येते प्रचो विचरसंज्ञाः । एतेषुंज्ञाः 'अ व च ट व प च झ ञ षाः पंच [१ १५४
व १] वर्गाः (गोः) संज्ञसंज्ञा भवति । एतेरेव विचरसंज्ञ(र) सुंज्ञानां अक्षरानां विद्यमानामिपत्ते
क्षोभिते सति योऽक्षरः प्रमे आकारयुक्तः स आदिगित्वात्कारसंज्ञया द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । यथा
ककार आकारेणादिगितो द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । ('अ' व च ककार आकारेणादिगितो द्वितीयवर्गं
प्राप्नोतीति ।) [१ १५५ व १] वक्षिजप्यवराष्टरो(र) सुवक्षित्वात्कारवराष्टरम् । स पच ककार इक्ष-
रेणामिभूमितो द्वर्गमिजावकारसंज्ञया वर्गं प्राप्नोति । वक्षिजप्यवराष्टरसुवक्षित्वात्कारवराष्टरम् ।
स पच ककार ककारयुक्तेन वृद्धे । एतः स वर्गे मिजावकारसंज्ञया वर्गं प्राप्नोति । तर्गो
वच्यतुसुवक्षित्वात्कारवराष्टरम् । एतः करेत्सु(क्षि)मिस्तेऽप्य[१ १५५, व १] वराष्टः पूर्वोक्तानामेव
वृद्धयाः । 'अ ए औ' इत्येते प्रचः संज्ञ-विचरसंज्ञाः । एतेषुंज्ञाः पूर्ववर्गी[षाः] पंच संज्ञविचर
संज्ञा भवति । एतैः संज्ञविचरेषु(सुं)ज्ञानां अक्षरानां अमिपत्ते क्षोभिते सति संज्ञ-विचर
मकारेण योऽक्षरोऽक्षरो अक्षरते स संज्ञ-विचरसंज्ञाः । आदिगितामिभूमित्वात्कारवराष्टरानामिपत्ते
पूर्वविचर(क्षि)गः । ककारेण वक्षिजप्यवराष्टरमिति । योऽक्षर आदिगितोऽमिभूमित्वात्कारेण
वृद्धये वा
तेषाम् [१ १५ व १] अमिपत्तुज्ञानां वच(प) संज्ञाविचरो भवति स वक्षिपात् तेनारोका
कारैः ॥ २७ ॥

जो य इकारो(रे) गमओ, इ(ई)कारम्मि वि वियाण सो चेव ।

जो ए(य उ?)कारे गमओ, क(ऊ)कारे हवइ सो चेव ॥ २७१ ॥

इकारस्य ईकारस्य च द्वयोरस्ति प्रीतिसद्वहुले प्रश्ने 'प्रीतिर्मे भविष्यतीति?' पृच्छन्तो-
(तोऽ)सि प्रीतिरित्यादेश्यम् । ए(उ)कारस्य [ऊकारस्य] च द्वयोरस्ति प्रीतिसद्वहुले प्रश्ने 'प्रीति-
रनेन सह मे भविष्यतीति?' चिन्ता(न्त)यतोऽस्ति प्रीतिरित्यादेश्यम् ॥ २७१ ॥ [प० १६०, पा० २] ।

ऊकारे जं बुत्तं, छट्टे एयारसे य वारससे ।

होइ सरे तं सव्वं, सव्वत्थ वलावलविसेसो ॥ २७२ ॥

उकारस्य ऊकारेण अकारेण च सानुस्वारेण सविसर्गेण च सह प्रीतिः । उकाराधिके प्रश्ने
एषां स्वराणामन्यतमे दृष्टे प्रीतिं पृच्छतोऽस्ति प्रीतिरिति वाच्यम् । वलावलविशेषश्च द्रष्टव्यः ।
अनभिहतो अलियां (धलीयान्) अभिहतो दुर्धलः । प्रथमो भेदः स्वरवस्तु ॥ २७२ ॥ ॥

इदानीं [प० १६१, पा० १] व्यजनविभागकरणस्यादेशं कुर्वन्नाह-

जो चेव पुव्वभणिओ, संजोओ वंजणाण परि(य वि?)भाओ ।

सो चेव इहं सव्वो, गयविलुलियवत्थुए वीए ॥ २७३ ॥

य एव पूर्वोक्तव्यजनानां स्वराणां च सयोगविभागान्स्थाक्षरोत्पत्तौ उपरिष्ठाद् वर्णयस्य-
(यिष्य)ति गजविलुलितन्यायेन । एव द्वितीयो भेद(दो) व्यजनविभाग उक्तः ॥ २७३ ॥ ॥

लहति ककारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) खकारसंजुओ च-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ ट-तवग्गं(ग्गे) ॥ (१)

लभति गकारो गरुओ, सवग्गयं(ग्गिय?) घकारसंजुओ प-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गं(ग्गे) ॥ (२)

लल(भ)ति चकारो गरुओ, [प० १६१, पा० २] सवग्गयं छकारसंजुओ ट-वग्गं । ॥

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ त-प-वग्गे ॥ (३)

लहइ जकारो गरुओ, ज(स)वग्गयं झकारसंजुओ [य]वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ स-क-वग्गे ॥ (४)

लहइ टकारो गरुओ, सवग्गयं ठकारसंजुओ त-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ प-य-वग्गे ॥ (५) ॥

लहइ डकारो गरुओ, सवग्गयं [प० १६२, पा० १] ढकारसंजुओ स-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ क-च-वग्गे ॥ (६)

लहइ चकारो गरुओ, सवग्गयं थकारसंजुओ प-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ य-स-वग्गे ॥ (७)

लहइ दकारो गरुओ, सवग्गयं धयारसंजुओ क-वग्गं ।

अणुणासियसंजुत्तो, कमसो पावेइ च-ट-वग्गे ॥ (८) ॥

- लहृङ् पकारो गरुओ, सवर्गय [१ ११९ प २] फकारसजुओ य-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् स-वर्ग-वर्गे ॥ (९)
 लभङ् य(घ)कारो गरुओ, सवर्गयं ह्(म)यारसजुओ स(ष)-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् ट-वर्ग-वर्गे ॥ (१०)
 लहृङ् प(ष)कारो गरुओ, सवर्गयं रयारसजुओ स-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् फ-वर्ग-वर्गे ॥ (११)
 लहृङ् टकारो गरुओ, सवर्गयं वयारसजुओ ट-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् त-वर्ग-वर्गे ॥ (१२)
 लभङ् स(घ)कारो गरुओ, सवर्गयं स(प)कारसजुओ फ-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् च-वर्ग-वर्गे ॥ (१३)
 लहृङ् सफा [१ ११३ प १] रो गरुओ, सवर्गयं ह्कारसजुओ त-वर्ग ।
 अणुणासियसजुओ, कमसो पावेङ् फ-वर्ग-वर्गे ॥ (१४)

चतुर्विंशत्यामपि ग्यबानां लवर्गसंयोगवस्तुपरिर्णकं प्रस्ताव्यपरिर्णकमाह-तिर्विंशत्युर्विंश-

एहानि चतुर्विंशतिः कृत्वा प्रथमा रीतिः । क, क, क्क, च हृ ट, ट ग्ग, ग ल्व प, ह् प, स(घ) ॥१॥ अस्मावद्याम्-क च क्क, ट, क्क, ट प क्क, ज, क्क प ह् स(घ) क ॥२॥ अस्मावः-हृ, ह, हृ ट, प्प, प च हृ ह, ह्, स(घ) प्प, क, च ॥ ३ ॥ [१ ११३, प २] अस्मावद्याम्-च, ट ल्व प ल्व च स(घ) हृ ह, ह्, क, ल्व च ट ॥ ४ ॥ अस्मावः-ल्व प ल्व, प, ल्व स(घ), क ल्व च ल्व च ह्(भ्र), ह, ट ॥ १ ॥ अस्मावः-ल्व च, र्, स(घ), र्, क च ह्, स स्व, ह, ह्, ट प ॥ ६ ॥ अस्मावः-हृ हृ हृ ह, क, स(घ), च हृ हृ हृ, स, हृ, ट र्, प, प ॥ ७ ॥ यथा मुक्तिरेवाश्रयव्यतिरिक्ति ॥

[गामाचतुर्विंशत्याकानुसारेण कोष्ठकमिदं स्थापितम् -]

| | | | | | | | | | | | | | |
|-----|----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|-----|----|----|
| क | क | क्क | च | हृ | ह | हृ | ग | ग | ग्ग | च | हृ | च | क |
| क | च | क्क | ट | क्क | ट | प | क्क | च | ल्व | च | क्क | हृ | क |
| हृ | ह | हृ | ह | क्क | प | च | हृ | हृ | हृ | च | क्क | हृ | च |
| च | च | ल्व | प | ल्व | च | क्क | हृ | हृ | हृ | क्क | ल्व | च | हृ |
| ल्व | हृ | क्क | च | ग | हृ | क्क | ल्व | च | हृ | च | ल्व | हृ | हृ |
| ल्व | च | हृ | क्क | हृ | क्क | च | हृ | क्क | हृ | हृ | हृ | हृ | च |
| हृ | च | हृ | हृ | हृ | हृ | हृ | क्क | च | हृ | हृ | हृ | हृ | च |

एवं तु सभावत्या, लहंति अह् अणुवलाभिघाएणं ।
दिद्धा पुवावरओ, लहंति तौ णंतरं वग्गं ॥ २७४ ॥

एवं तु स्वभावात् एव प्रसारेण लब्धिर्नृत्ता । प्रभ्राक्षराणामधरघातु(रातु?)वलितत्वाघाक्षरं
लक्षयेत् । उक्त[प० १६५, पा० १]रान(तु)वलितत्वाघ आलिङ्गिताभिधूमितदग्घाघ तमेवाक्षर यथोक्तं
यथा लक्षयेत् । पूर्व्या(र्ध?)क्रमेण पूर्वोक्ताभिघातसु(शु)द्धेन आलिङ्गितत्वादनन्तर घर्गं लभते ।
अभिधूमितत्वात् द्वितीयवर्गम्, दग्घत्वात् तृतीयं वर्गं यथा प्राप्नुवति तथा पूर्वोक्तम् । स्ववर्गा-
क्षरसयोगवस्तु तृतीयम् ॥ २७४ ॥ इदानीं चतुर्थो भेदः—[प० १६५, पा० २]

परवग्गक्खरगरुया, अ(ज)त्तियमित्तेहि पण्ह आइल्ला ।
ते सव्वे पत्तेयं, पढम पावंति संठाणं ॥ २७५ ॥

प्रभ्राक्षराणां मध्ये यावन्मात्राः परवर्गाक्षरगुरवो दृश्यन्ते तेषामुपरि अक्षरो यः स ॥
प्रत्येकं प्राप्नोत्यात्मनो वर्गम् । उत्तरानुवलितत्वात् उत्तरं, अधरानुवलितत्वाद्दधरमिति ॥ २७५ ॥

सेसा सकायगरुया, सव्वे त्ति लहंति अप्पणो वग्गं ।
सेसाण त्ति एस कमो, सव(व)त्थ वलावलविसेसो ॥ २७६ ॥

स्वकायगुरुव(रवः) सर्वे [प० १६५, पा० १] यथा प्राप्नुवन्त्यात्मनो वर्गं तथा उक्तमेव ।
शेषाणामेव क्रमः । शेषप्रहणेनालिङ्गिताभिधूमितदग्घ(रघा) भण्यन्ते । ते यथा स्व[व]र्गं प्राप्नु- ॥
वन्ति तथा पूर्वमेवोक्तम् । सर्वत्र वलावलविशेषो द्रष्टव्यः । इत्यभिहन्ता वलीयानी(नि)ति ॥ २७६ ॥

॥ चतुर्भेदं गजविलुलितं समाप्तम् ॥

पण्हाइमसंखाए, जाणिज्जा तंमि वग्ग एक्केक्क ।

नामक्खरं तु लब्भइ, एवं से[से]सु त्ति क्रमेणं ॥ २७७ ॥

प्रभ्रादिमस्याक्षरस्य वाऽनवि(भि)हृतस्य या सख्या तथा नामा[प० १६५, पा० २]क्षरसंख्या 21
क्षेया । स एवानभिहृतः स्ववर्गाक्षर लभते । एवं चेऽपि तत्रावल्लिष्टा अभिहृतास्तेऽपि स्ववर्गाक्षर
लभन्त एव ॥ २७७ ॥

जत्थऽट्टगाइरित्ता, हवंति तत्थऽट्टयं विसोहेत्ता ।

जं तत्थ हवइ सेसं, तं मिद्रा(?)णामक्खरवग्गे ॥ २७८ ॥

प्रभ्राक्षराणा निपतिताना यदा एभ्यो अक्षरेभ्योऽभि(ति)रित्ता [अ]क्षरा भवन्ति तदा
तेषां या सख्या साऽऽद्याक्षराष्टकमध्ये शोधयित्वा अष्टभिन्ना(र्भा)गमपहृत्य लब्धावसि(शि)ष्टाश्च 22
द्वौ वर्गौ लभ्येते । [प० १६६, पा० १]कवर्गादिगणनया च तौ गण[यि]तव्यौ । उत्तराक्षरवहुले प्रभ्रे
उत्तराक्षरो लभ्यते । अधराक्षराधिके प्रभ्रे अधराक्षर इति ॥ २७८ ॥

एवं तु सभावत्ये, कीरइ णामक्खराण उप्पत्ती ।

अणुवल्लिहा(या)भिहया वि य, पुवावरवग्ग एक्केत्तं ॥ २७९ ॥

अण्णोसु एवमाइसु, कज्जेसु जहट्टि(च्छि ?)एसु सवेसु ।

गुणकारं काऊणं, अट्टा [५० १७०, पा० १] विहत्ते हवइ इच्छा ॥ २८४ ॥

अन्धेप्वेवमादियु कार्येषु यथेप्सितेषु प्रभाक्षरसख्यापिंडमायक्षरवर्गाक्षरसख्यया गुणयित्वा
अष्टविभक्ते वर्गो लभ्यते । समेव पूर्वोक्तमर्थं वर्णितवान् ॥ २८४ ॥

॥ गुणाकारप्रकरणं समाप्तम् ॥

पंचण्ह वि वग्गाणं, जस्स य वग्गस्स पण्हमादीए ।

वग्गक्खरं पईसइ, तंमि हु णामक्खरं [५० १७०, पा० २] वग्गे ॥ २८५ ॥

पंचानामपि वर्गाणा 'क च ट त प य शा' धानां यस्य वर्गस्य प्रभादौ अक्षरोऽनभिहतो दृश्यते
तस्मिन् वर्गे एको नामाक्षरो लभ्यते ॥ २८५ ॥

एवं तु सहावत्थे, वलावल-विसेसओ जहा पुवं ।

एवं विपक्ख(क्ख)राणं, गमओ संपक्ख(क्ख)राणं च ॥ २८६ ॥

स्वभावस्थाः प्रभाक्षरा अनभिहतास्तेषु वलावलविशेषेण यस्मिन् [५० १७१, पा० १] वर्गे ते
अक्षराः प्रतिषद्वास्तान् वर्गान् प्रति लभन्ते । विपक्ख(क्क)राः, के ? अधराक्षराः । संपक्कराश्चो-
त्तराक्षराः । उत्तरेहत्तराक्षरा लभ्यन्ते । अधराक्षरैरधराक्षरा इति ॥ २८६ ॥

वग्गक्खरंमि दिट्ठे, तत्तो वग्गक्खर(रा) पवत(त्त)न्ति ।

पढमं तइयं छट्ठं, नवमं च तहक्खरं जाणे ॥ २८७ ॥

वर्गाक्षरा इति । त एव प्रभाक्षरा उच्यन्ते । तेभ्यः प्रभाक्षरेभ्यः वर्गा [५० १७१, पा० २]-
क्षराणामुत्पत्तिर्ज्ञेया । ये वा प्रथम-द्वितीय-पष्ठ-नवम-प्रभाक्षरा अनभिहता भवन्ति तदा ते
स्ववर्गप्रतिषद्वाक्षर प्राप्नुवन्ति ॥ २८७ ॥

॥ उत्तराधरानी(णी)ति विभागप्रकरणं समाप्तम् ॥

णामक्खराण एसा, पयडी णामाण चेव य पहाणा ।

तह करणमाइयावि य, पंच य नामा भवे इत्थ ॥ २८८ ॥

नामाक्षराणामेव सभावो वर्णितप्रधानः । तथा करणमाट्टकागृ(ग्र)हणेन पंचचत्वारिंशदक्षरा
भण्यन्ते । तेषामपि पंचभिः प्रकारैः अक्षरा लभ्यन्ते आलिङ्गिताभिधूमितवर्गोत्तराधरैः ॥ २८८ ॥

णवमा [५० १७२, पा० १] ढ्ढमेसु एक्केक्कयं तु एकं उरेसु(रस्स ?) संठाणं ।

एमेव य कंठाणं, सत्तट्टमएहि सह यो(जो)गो ॥ २८९ ॥

उरस्य(स्याः), कठ्याः, जिह्वामूलीयाः, तालव्याः, [मूर्द्धतालव्याः ?], दत्याः, उ(ओ)ष्ठ्याः,
अनुनासिकाः, मूर्द्धन्या इति नव स्थानानि वर्णानाम् । तत्र नामान्या(?) मूर्द्धन्याः, तेषामन्यतम
आलिङ्गितः यदा तदा अनुनासिकानां मध्ये अक्षर लभति । अनुनासिग्नानामन्यतम आलिङ्गित
ति० शा० ९

ओडा(ह्वा)नां मध्येऽधरं छमते । ओडा(ह्वा)नामन्वतम आर्द्धिगितः [ह्वा]नां मध्येऽधरं छमते ।] ह्वानामन्वतम आर्द्धिगितः मूर्द्धताह्वाणां मध्येऽधरं छमते । मूर्धताह्वाणा-
मन्वतम आर्द्धिगितः ताह्वाणां मध्ये १ १०१ ५ १ऽधरं छमते । अरुनामन्वतम आर्द्धि-
गितः मूर्धन्वाणां मध्येऽधरं छमते ॥ २८९ ॥

पश्चम-चठत्ययाणं, जीहामूलेहि होइ सह जोमो ।

तालघाण जोगो, पठम-तइजेसु दोसु पि ॥ २९० ॥

मूर्द्धन्वाणामन्वतम अभिभूमितः मूर्द्धताह्वाणां मध्येऽधरं छमते । अनुनासिकामन्व-
तम अभिभूमितः ह्वाणां मध्येऽधरं छमते । ओडाणामन्वतम अभिभूमितः मूर्द्धताह्वाणां
मध्ये [१-१०१, ५ १]ऽधरं छमते । ह्वाणामन्वतम अभिभूमितः ताह्वाणां मध्येऽधरं छमते ।

१० मूर्द्धताह्वाणामन्वतमः अभिभूतः सिद्धामूलीयानां मध्येऽधरं छमते । ताह्वाणां अभिभूमितः
कंध्याणां मध्येऽधरं प्राप्नुवन्ति । सिद्धामूलीया [अ]भिभूमिता अरुनां मध्येऽधरं प्राप्नुवन्ति ।
कंध्याणामन्वतम अभिभूमितः(तो) मूर्द्धन्वाणां मध्येऽधरं छमते । अरुनामन्वतम अभिभूमित
[१ १ १ ५ १] अनुनासिकानां मध्येऽधरं प्राप्नोति । अथ अथमेव अथ ए(एव)अथमे-
(वे)ति कमंगीहन्त आ(अथा)भिभूता दु(द)गावाडुरूपमिति ॥ २९० ॥

मि-तिय-चठत्येहि सम, सजोगो होइ मुकसालाणं ।

पश्चम-चठत्यएण, जोगो वरगाण वन्तेहि ॥ २९१ ॥

मूर्द्धन्वाणामन्वतमो ह्वाणो ह्वाणां मध्येऽधरं प्राप्नोति । अनुनासिकामन्वतमो
[१ १०५ ५ १] ह्वाणो मूर्द्धन्वाणां मध्येऽधरं प्राप्नोति । ओडाणामन्वतमो ह्वाणो ताह्वाणां
मध्येऽधरं प्राप्नोति । ह्वाणामन्वतमो ह्वाणो सिद्धामूलीयानां मध्येऽधरं छमते । मूर्द्धताह्वाणा-

११ मन्वतमो ह्वाणो कंध्याणां मध्येऽधरं छमते । ताह्वाणामन्वतमो ह्वाणो अरुनां मध्येऽधरं
छमते । सिद्धामूलीयानामन्वतमो ह्वाणो [१ १०५ ५ १] मूर्द्धन्वाणां मध्येऽधरं छमते । कंध्या-
णामन्वतमो ह्वाणो अनुनासिकानां मध्येऽधरं छमते । अरुनामन्वतमो ह्वाणो ओडाणां मध्ये-
ऽधरं छमते । अथअथैरअथमि अथमते । अथअथैरअथमि[अथ]अथमि[इति] कमंगीहन्तो-
णम् । न गर्भानु रूपम् ॥ २९१ ॥

उड्ढाण पुण यो(जो)मो, पश्चम-छठेहि होइ वग्गेहि ।

छठ्ठेण सत्तमेण, जोगो अणुणासियाण च ॥ २९२ ॥

कमंगीहन्त अथमि(हि)तं तत्रैव अथमनां अर्पतो गायेमिति न इथा(विहवा) ॥२९२॥

सत्तमेहि दोसु सि, सुडणा(मुकण्णा)णि [१ १०५, ५ १] तहेव सो यो(जो)मो ।

बग्गे बग्गे एव, तिण्णि हु णामक्खरा पठने ॥ २९३ ॥

१२ आर्द्धिगितत्वावैकमधरं छमते । अभिभूमितत्वाद् द्वितीयं ह्वाणत्वापूर्वीकमधरमिति । एना-
नाम(परोऽ)ति गावाणां व्याख्याताः । अतो न विरुध इति ॥ २९३ ॥

सो(सा)ह्वाविहा य एव, पथडीए पठमसो ह्वइ णामं ।

उत्तरमहरचठठे, यलाघळयिसेसमो विहए ॥ २९४ ॥

प्रभाक्षराणां मध्ये येऽक्षरा अनभिहृतास्ते स्वभावतः प्राप्नुवन्ति आत्मवर्गस्त्रै(र्गै)र्नाम-
निर्देशः कार्यः । उत्तरर्चा [प० १७५, पा० २] तुष्क इति 'अ च त या' निर्दिश्यन्ते । अधरचतुष्क इति
'क च ट त प य शा (क ट प शा ?) ना' निर्देशः । 'अ च त या' नामन्यतमस्य 'क ट प शा' नामन्यत-
मोऽप्रतो यदा भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षर प्राप्नोति । यदा 'क ट प शा' नामन्यतमस्य 'अ च त
या' नामन्यतम(मा)क्षरोऽप्रतो भवति तदा स्ववर्गप्रतिबद्धाक्षर लभते ॥ २९४ ॥

॥ स्ववर्गप्रकरणं समाप्तम् ॥

मूलस्तरा सवग्गे, एक्कं जुत्ता लभन्ति सट्टाणो(णे) । [प० १७६, पा० १]

परवग्गक्खरगरुजुत्ता, वितियं च अणंतरं अहरं ॥ २९५ ॥

मूलस्तराः ? । के ते ? त्रयः । तैर्युक्ताः प्रभे 'ह व ण न मा' 'र ल पाः' एषामेव मध्येऽन्य-
तमाक्षरं लभते । मूलवर्गप्रतिबद्धत्वात् । पचमवर्गः स्ववर्गो मूलस्तराणाम्, शेषाः परवर्गाश्चत्वारः, ॥
तैर्युक्तास्त एव मूलस्तराः । येनाक्षरेण युक्तस्तस्याक्षरस्यानंतरो यो वर्गोऽप्यस्तद्वर्गप्रतिबद्धमेवाक्षरं
प्राप्नुवति ॥ २९५ ॥

उत्तरै(र)वग्गे एक्कं, वीयं पुण होइ जत्थ संजुत्ता ।

अहरंमि लभे तइयं, दुविहा दिट्ठी उ आकारे ॥ २९६ ॥ [प० १७६, पा० २]

दृष्टिप्रयोगसयुक्तेन असयुक्तेन च आकारेण एवमुपरिप्रयोगेष्वपि अक्षरलब्धिः [ः] द्विधा ॥
भवतीति । उत्तरैर्वर्गैः 'क च ट त प य शाः, ग ज ङ द व ल सा' श्र । एषामन्यतमाक्षरस्योपरिगतो
मूलस्वर अनंतरमधोवर्गं प्राप्नोति । उदाहरणम् - ककारस्योपरिगतो मूलस्वरः चवर्गं प्राप्नोति ।
चकारस्योपरिगतः मूलस्वरः [प० १७७, पा० १] च(ट ?) वर्गं प्राप्नोति । टवर्गस्योपरिगतो मूलस्वरः
तवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येष्वपि द्रष्टव्याः । एषामेव प्रथम-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां प्रभाया यदप्रतो
मूलस्वरोऽसयुक्तो यस्याप्रतो व्यवस्थितस्तस्यैवाक्षरस्य पूर्वस्य सर्वधिवर्गं प्राप्नोति । एवं ॥
द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणां अप्रतो(तः) स्थिता मूलस्वरा असयुक्तास्तृतीयवर्ग[प० १७७, पा० २] मितः
प्राप्नुवन्ति । यथा खकारस्याप्रतो व्य(व्य)वस्थितो मूलस्वरः [ः] टवर्गं प्राप्नोति । छकारस्याप्रतो
व्यवस्थितो मूलस्वर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः । आकाराव(रः क)कार-
स्योपरिगत आकारः तस्याधोऽनंतर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्य द्वितीयस्य वर्गस्याधराक्षरमनंतरं
लभते । यथा ककारस्योप [प० १७८, पा० १] रिगतः अकारश्चवर्गं प्राप्नोति । चवर्गोऽप्यधराक्षरं ॥
प्राप्नोति । एवं चकारस्योपरिगतः आकारः टवर्गं लभते । अत्राप्यधराक्षरम् । एवमन्यत्रापि ॥
एवं ककारस्योपरिगतः स्थितः अकारः चकारमेव लभ्य(भ)ते । तथा अघराक्षरोपरिगत स च
वा(आ ?)कारोम(ऽ)नंतर द्वितीयवर्गं प्राप्नोति । तस्या(स्य) द्वितीयवर्गानंतरमेवाधराक्षरं
[प० १७८, पा० २] प्राप्नोति । एवमनंतरोऽप्यसयुक्तः । उदाहरणं यथा - पकारस्योपरिगत आकारः
ककारवर्गोऽप्यधराक्षर प्राप्नोति । एवमन्येऽपि द्रष्टव्याः ॥ २९६ ॥

एवत्तु(न्तु) अहरवग्गे, एक्कं वितियं तु जत्थ संजुत्ता ।

धातुस्तराण एवं, दुविहा दिट्ठी उ पयडीए ॥ २९७ ॥

द्वितीय-वर्णवर्गयोस्परपोर्णे अक्षरा धातुस्वरपुच्छस्ये अचोवर्गं द्वितीयानन्तरं द्वितीयवर्षं प्राप्नुवन्ति । यथा ककार ककारेण पकारेण वा पुच्छः ककारं प्राप्नोति च मन्थेऽपि इहत्या । तपोरेव धातुस्वरयोस्वरपठे यथाऽपराधराणां अमर्था १ १०५, य १) मन्थसंज्ञुच्छः, यथा इमे बाधार् प्राप्नोति । यथा यकारस्वामयो पकाररश्चः पकारं समते । द्विविधा दृष्टिर्मि प्रथो
 * [७] च्छे ॥ २९७ ॥

ह्रस्वस(स्स)रा य मन्थे(सवमे), एक्(श्च) तु लभन्ति जल्प संज्ञुचा ।
 त्रितीयवर्गो तद(सब)र्गं, लभन्ति अहरेण फुमिचे(छि) ॥ २९८ ॥

इहत्यापराधात् 'अ इ ए व' । 'क च ट थ प य धा'नां 'ग ज ह द व क सा'नां चान्धवयाहरे
 [७] पुच्छः लभार् फलं प्राप्नुवन्ति । यथा ककार पकारेण पुच्छः ककारं प्राप्नोति च मन्थेऽपि इहत्या लभार्
 * प्राप्नुवन्ति । संयुच्छसंयुच्छेऽस्तुत्या प्राप्तिः । द्वितीयवर्गस्यार्थं 'य छ ड ङ ङर वा'र्थं अन्धवया-
 [१ १०५, य १] हरे यथा (श १) अथमहत्यापराधात् यथा बल्यतीवर्गं प्राप्नोति । यथा ककार
 चतुर्थं 'अ इ ए व' अन्धवमेव पुच्छः एतीवर्गं प्राप्नोति । यथा व(१) पुच्छपुच्छसिद्धतापुच्छपुच्छं
 प्राप्नुवन्ति । 'क ट' वर्णे च एतीवम् । एवमन्धप्राप्ति ॥ २९८ ॥

॥ इयमनम्बरमकरण समाप्तम् ॥

* जीया(ह्य)मूलिककटाइसंज्ञुओ लहइ निष्णि उ हकारो ।
 उचरप[य]ञ्चिचठके, एह दो दोसु चरिनेसु ॥ २९९ ॥

'अ इ ए व' इत्येते चत्वारः कंठ्याः । 'क ट ग वा' मिहामूढीवास्त्याः । एवामन्धवया-
 हरे अन्धवर्तं कंठ्यस्वरपुच्छमिहामूढी[१ १०५ य १] यनां मन्थेऽपि प्राप्नोत्युच्छपार्थं (श) च्छि-
 तत्वात् । चरं चरप्यहृत्तिचतुष्कमहमेव 'अ च त था' च्छम्यते । तेषां चतुर्णां अन्धवमोऽप्युच्छ-
 * 'अं वा' एते चरियो अन्धयोस्वरपठेण पुच्छमेव पुच्छादरं कथ्यते । यथा 'अं' अन्धेव पुच्छे चकारे
 सति चकार एव कथ्यते । 'अं' अन्धेव पुच्छे चकारे कथ्यते । एवमन्थेऽपि इहत्या । 'अन्ध-
 सिष्णि च हकारे' एतीये वर्णे कथ्यते चार्थः मिहामूढीवैरिति ॥ २९९ ॥

एमेव सेसयासु वि, दोसु(सु) दोस(सु) तु जासु संज्ञोञ्जो(ओगो) ।

पयडीसु तासु एसो, हइइ हकरस्त [१०१० य १] अहिलासो ॥ ३०० ॥

* एवं 'अ इ ए वा' इत्यात् ककार-इकारपुच्छपठे द्वौ चकार-इकारपुच्छपठे तेषामन्धवयाहरे-
 उच्छ[१] च्छि चरिमेव चरेण पुच्छे वेत्त पुच्छः च चिर(चरि)मः सदैव(चरि)चरं कथ्यते । चरिचरयो
 इकारपुच्छात्तापे वा आत्मानमेव कथ्यते जयावात् ॥ ३०० ॥

उचरपयरीसु एहं(गं), लहति जासु(सु) च संज्ञुया तासु ।

एहं(गं)मेव कटा, उच्छाणं उचरिमि(मि) जाव ॥ ३०१ ॥

* विरिधेव(वर्षेव) तु यो(वी)वर्ण्य(व)रिमे 'अं वा' । अन्धवनां विसावां मूढेवाहत्यात्
 वाऽन्धवमोऽप्युच्छ चररररार्थं चतुर्णांमन्धवमेव पुच्छमेव चकारं कथ्यते । चररररत् 'अ इ ए ओ' ।
 [१ १०५, य १] ॥ ३०१ ॥

अहरासु लभे एकं, एकेकं चैव जासु जं जुजो ।

अहरपयडीसु चउसु वि, दंतादी जाव सुद्धाण्हा (मुद्धण्णा ?) ॥ ३०२ ॥

दंतानामोष्ठानामनुनासिकानां मूर्द्धन्यानां मध्येऽधराक्षरो वाऽधरस्वराः 'आ ई ऐ औ' एषां चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराक्षरोऽधराक्षरमेव लभते । उत्तरोऽधरेषां दंत्यादीनां मध्ये एवैवाधराधरस्वरैर्यदा युक्तो(क्त)स्तदा अधराक्षरमेव लभन्ते(ते) ॥ ३०२ ॥

॥ स्वभावप्रकृतिस्समासा ॥

पढमसरा आइछ्हा, तिण्णि वि उट्टा य हो(होँ)ति पयडीओ ।

दोसुत्तरपयडीसुं, दोन्नि य सो अक्खरे लहइ ॥ ३०३ ॥

प्रथ[प० १८१, पा० २]मस्वरा आद्याख्यः 'अ आ इ' ओष्ठ्याक्षरैः सार्द्धमेषां स्वराणां मध्ये अकार इकारश्च द्वावुत्तरो अ(आ)कारोऽधरः । ओष्ठ्याक्षराणा उत्तरयोरन्यतरो यदा भवत्य- " प्रथः, तदा उत्तराक्षर प्राप्नोति । एषां मध्ये ओष्ठ्याक्षराणामन्यतमस्याप्रतो दृष्ट आकारोऽधर- रत्तेषां मध्येऽधराक्षरमेव प्राप्नोति ॥ ३०३ ॥ [प० १८२, पा० १]

अका(उत्त?)रसर(रा ?)उ कंठा, दोण्णि वि चरिमा हवंति पयडीए ।

एवं एस विसग्गो, तिण्णि हु नामक्खरे लहइ ॥ ३०४ ॥

कथ्या उत्तरस्वराः - 'अ इ ए औ' चत्वारः । तेषामनुस्वारेण अकारेण सविसर्गेण च सह " भीतिः । एवमेव वृ(त्रि)संख्यः अकारः वृ(त्रि)नामाक्षर प्राप्नोत्येतयो(क्षो)परिगाथया व्याख्या- सति ॥ ३०४ ॥

अवस(धर ?)त्तरासु एकेक्यं तु एकं च ख(ल ?)भइ मिस्सासु ।

पंचम-छट्टा [प० १८२, पा० २] तह सत्तमा य माँ तइउ(?)पयडी ॥ ३०५ ॥

प्रभे यदा अधरवर्गो द्वौ अधरो द्वितीयवर्गाक्षराणा यदा प्रभे 'ख ल ठ थ फ र पाः' स्ववर्गा- २ क्षराणां चातरद्वौ दृश्येते तदा तयोरन्तरोऽक्षरो लभ्यते । यथा खकारस्याप्रतः चकारोऽवस्थितः । एवमन्यत्रापि । तथा उत्तरेषु प्रथमवर्गाक्षराणां 'क च ट त प य शा'ना तृतीयवर्गाक्षराणां च 'ग ज- ड द ष ल सा'ना यदा प्रभे द्वावक्षरावनतरा वा द्वौ दृश्येते तदाऽनयोरेको लभ्यते । यथा फका- रस्याप्रतो गकारः । एवमन्यत्रापि । एव च अधरोत्तर लभत इति । उक्ता एव मिश्रा स्थितिः । यदा प्रभे एक उत्तरः आद्यः तस्याप्रतोऽधरोऽथवाऽधर आद्यः (तस्याप्रतोऽधरोऽथवाऽधर २ आद्यः) तस्याप्रत उत्तरस्तदाभिधाते [प० १८३, पा० १] शुद्धे सति द्वयोरक्षरयोर्दो वल्वान् [स] लभ्यते एक एव । पंचम उकारः, षष्ठ ऊकारः, सप्तम एकारः, इत्येतेषा त्रयाणा इकारेण सह भीतिकृति(प्रकृति)रिति भीतिरुच्यते ॥ ३०५ ॥

कंठाअ(ऽ)णुणासि उव्य(?)ट्टा, तिण्णि वि तइयस्स सो लहइ (?) ।

दोसुत्तर[र]पयडीसुं, एकं अहरासु तह जाण ॥ ३०६ ॥

अकारस्य एकारस्य उकारस्य वा कंठ(ठ)स्य षट्श्रमतोऽर्जन्तं इकारो ह्यस्यते, यथा अयेव
पूर्वस्वरस्यप्रोति । अनुनासिकान्तं 'अ ष ष न मा'नां ओङ्गान्तं 'अ ष ष न वा (ये ष न मा)'नां
ष एषामन्वयमस्योपरिगत इकारस्यनेवाक्षरं समते । प्रमोत्तप्रहृतिवृत्त । प्रहृतिवृत्तो वैश्वी-
पर्वायः । 'एक अचरमु आनीद(वि) इतेयदुपरिष्ठ[त्] व्याख्यासति ॥ २०९ ॥

ईका[१ १८१] य २।२स्त घटत्या, मुहृहा(ऋष्णा ?) सेसया जहा तइए ।
अन्स्तरलमो जो उत्तरामु सो चेष अहरामु ॥ २०७ ॥

एकारस्य मूर्ध्या(म्)स्याप्रताः शिव ईकारे(र) देकारं समते । औकारो(रक्षा)मूर्ध्यास्याप्रतोऽत्र
शिव ईकार औकारयेव प्राप्नोति । 'र ङ पा'नां(पो) मूर्ध्यानामन्वयमस्योपरिगतः ईकारस्येवाक्षरं
प्राप्नोति । ईकारस्य नवाऽक्षरस्यम उक्तः, [१ १८४] य १।२यं इकारस्याप्यक्षरमकृतेवक्तः ॥ २०७ ॥

जा ईकारे पयडी, घटरो सा चेष होइ उ(यी) उकारे ।
अन्स्तरलमो ओ पचमस्त सो चेष पयस्त ॥ २०८ ॥

बहुपस्य ईकारस्य एकारेण सह प्रीतिः । प्रीतिवृत्ताः स्वमाचर्षायाः । भूदेवी' इत्येतेषां
ब(प्र)धानां अन्यतयस्यामतोऽर्जन्तशिव एकारस्येव पूर्वस्वं समते । 'र [का]य वाप्यवय-
जा(स्य) धन्यापो[१ १८४] य १।२मुक्त इकारस्येव समते । पंचम एकारो नवाक्षरं समते इकारोऽपि
५ तथैव प्राप्नोति ॥ २०८ ॥

जीहामूर्त्तियकंठा, ताल्वाणुणासिया य एकारे ।
अन्स्तरलमो तइए, ओ वि य सो चेष इहर्म पि ॥ २०९ ॥

त्रिहामूर्त्तीचानां कंठानां णाङ्गानामनुनासिकानां चान्यवमाक्षर एकारेण युक्ता एपरि
गतेन एनेवाक्षरं एकारम प्राप्नोति । कंठा(स्या)नामपि कृपानां अन्यतयस्यामंतवत्प्रमोत्तप्रहृतिव
५ एकारस्येव पूर्वस्वं समते । एकारेण ओऽक्षरस्यमाः स उक्तः । देकारेण वस्तुति ॥ २०९ ॥

अपर(उर)कंठोढा वता, मुहृ(ऋष्णा)णुणासिया[१ १८५] य १।२य अट्टमए ।
अन्स्तरलमं इह्यं, त पि य अहराहरे लहृइ ॥ २१० ॥

वस्मानां कंठानां ओङ्गानां र्वानां मूर्ध्यानां अनुनासिकानां चान्यवमाक्षर(ए)क्षर
देकारेण युक्तेऽप्युत्तरं प्राप्नोति । एकारस्यो'येषां मध्ये देकारेण युक्तोऽवकारस्येव प्राप्नोति ।
५ एषां मध्ये ये अउते(से)वामन्वयमस्याप्रता(स) शिव देकारस्येव स्वरप्राप्नोति ॥ २१ ॥

जीहामूर्त्तियकंठा, उट्टा अणुणामिया य एकारे ।
अन्स्तरलमं णमो, लहृइ तद्व्यस्त गमणेण ॥ २११ ॥

त्रिहामूर्त्तीयाः 'प ट ज हा । कंठ्या 'अ इ ए ए' । औङ्गा [१ १८५] य १।२'दे ङ ष षा' ।
अनुनासिका 'अ ष ष न मा' । एषामन्वयमन्वय चान्योरपरिगत देकारस्येवाक्षरं समते । स्वराना-
५ न्ति चान्यापयो'नवतयवशितस्येव पूर्वस्वं समते । यथा मूनीव इकारो क्कामवाप्नोति ।
एकारोऽपि तथैवेति ॥ २११ ॥

मुद्गणुणासियकंठा, तालवा मुद्गतालदंतोद्वा ।

दस[म]सरे पयडीओ, [प० १८६, पा० १] अक्खरलंभं जहम्मा(डुम^१)ए॥३१२॥

मूर्द्धन्यानुनासिककंठ(थ्य)तालव्य-दंतोद्वाः(स्योष्ठ्याः) । तेषामन्यतमोऽधराक्षरस्योपरिगतः दश-
मस्वरस्त्रमेवाक्षर लभते । उत्तराक्षरोपरिगतः एकारोऽधराक्षरमेव लभते । एतत्प्रतिबद्धस्वराणां 'आ
ई ऐ' अन्यतमस्याप्रतो वंच(ऽनन्त)रमवस्थित औकार[ः] पूर्वस्वर लभते । यथाष्टम[प० १८६, पा० २] ।
ऐकारोऽक्षरं लभते । एवमौकारोऽपीति ॥ ३१२ ॥

मोक्तुं पंचमपयडी, एकारसमस्त सेसया अट्ट ।

एक्केकं दंतोद्दे, मुद्गण्णे अक्खरे एक्कं ॥ ३१३ ॥

चरस्याः कठ्याः जिहामूलीयाः तालव्या मूर्द्धवालय्या दंत्या औष्ठ्या मूर्द्धन्याः ।
एषां अष्टानां अन्यतमोऽक्षर एकादशमः(श^१)स्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते । (एषामष्टानां यः ॥
[प० १८७, पा० १] एकादशस्वरेण युक्तः तमेवाक्षरं लभते ।) एषामष्टाना य एकादशस्वरेण
युक्त स एव लभ्यत इति ॥ ३१३ ॥

जो हका(क्का)रे म(ग)मओ, पुह(वु)त्तो सो इहं विसगंमि ।

एयस्त णविर(वरि^१)पयडी, संखा वि य तत्तिया चेव ॥ ३१४ ॥

अकारः सानुस्वारः यथा हर^(१)कार प्राप्नुवन्ति(प्राप्नोति) । एव हकार[ः] सविसर्ग- ॥
हकारमेव प्राप्नोति । द्वादशानां [प० १८७, पा० २] स्वराणा यन्तु (वस्तु^१)भावः स वर्णितः ।
प्रकृतिशब्दः स्वभावपर्याय इति ॥ ३१४ ॥ समाप्त ॥

अणमिन्नगगव(हते य अ^(१))यारे, अ ज खा ट च तथा वाय(१) एकारे ।

अभिघाइ †अट्टमे पंचमंमि ॥ ३१५ ॥

अकारेण अ सा म हा त ट(१)कारस्वल्प(स्याप्र)तो व्यवस्थितेन ककार एव लभ्यते । अकारे ॥
अनभिहते व(च)कारस्याप्रतः स्थिते चकार एव लभ्यते । आकारे अनभिहर्तं(ते) तकारस्याप्रतः
स्थिते टकार एव लभ्यते । अकारे अनभिहते तकारस्याप्रतः स्थिते तकार एव लभ्यते । अकारे
अनभिहते यकारस्याप्रतः स्थिते [प० १८८, पा० १] यकार एव लभ्यते । एकारेण युक्ते एकारो(रे)
कारो लभ्यते । एकारेण युक्ते एकारे व(च)कारो लभ्यते । एकारयुक्ते ठकारे टकारो लभ्यते ।
एकारेण युक्ते धकारे तकारो लभ्यते । एकारेण युक्ते रेफे यकारो लभ्यते । अष्टमस्य ऐकार[स्य ॥
एकार]स्वेव सयोगफलमुक्तम् ॥ ३१५ ॥

अणमिहते आकारे, ख ल ज झ त ह अभिहयंति दो चरिमा ।

ठ थ ट त ईकारंमि, उ फ र प य चउरो [अ^(१)]आरंमि ॥ ३१६ ॥

खकारस्याप्रतः स्थितेन अनभिहतेन अ(आ)कारेण एकारो लभ्यते । एकारस्याप्रतः स्थितेन
अनभिहतेना[प० १८८, पा० २]कारेण एकारो लभ्यते । जकारः सानुस्वारः जकारमेव लभ्य(भ)ते ॥
(†एकारस्याप्रतः स्थितेन अनभिहतेनाकारेण एकारो लभ्यते । जकार. सानुस्वारः जकारमेव

अन्वयो) सकारः सविसर्गो सकार एव अन्वये । इ(ठ)कार इकारसुष्ठो टकारं अन्वये । टकार इकारसुष्ठः सकारमेव प्राप्नोति । ऋकार इकारसुष्ठः षकारं अन्वये । ऐक इकारेण सुष्ठः षकारं अन्वये ॥ ३१६ ॥ [१ १८९ प १]

जह् पठम-सप्तमाण, तद्ज(य)णममाण सह य सहाणे ।

पठम-तद्द्वयाणुणासिय, षज्ञा य छद्मि अणमिहते ॥ ३१७ ॥

गकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितः अन्मिहत् इकारो गकारमेव अन्वये । अकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितः अन्मिहत् इकारो अकारमेव अन्वये । इकारस्वामतोऽन्तरमवस्थित अन्मिहत् इकारो अकारमेव अन्वये । इकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितः [१ १८९, प २] अन्मिहत् इकारो इकारमेव प्राप्नोति । ष(ष)कारस्वामतोऽन्तरमवस्थितो(वः) इकारो(ऽ) ष(ष)कारमेव अन्वये । अकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितेन अन्मिहत् इकारो[इकार]मिह अन्वये । अकारस्वामतो वाऽन्तरमवस्थितेन [अन्मिहत् ।] इकारः सकारमेव प्राप्नोति । टकार इ(बो)कारसंयुक्तः कोकारं अन्वये । छद्मण कोकारसंयुक्तः [१ १९ प १] कोकारं अन्वये । टकार कोकारसंयुक्तः टोकारं अन्वये । षकार कोकारसंयुक्तो [तो]कारं अन्वये । षकार कोकारसंयुक्तः पोकारं अन्वये । ऐक कोकारसंयुक्तः कोकारं अन्वये । षकार कोकारसंयुक्तः स(सो)कारं अन्वये । षण् कोकारेणा(ष्ण)मिहत्ः षकारस्वामतोऽन्तरमवस्थिते षकारमेव अन्वये । इकारो[१ १९ प १] अन्मिहत् सकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितः सकारमेव अन्वये । इकारोऽन्मिहत् अकारस्वामतः स्थितः अकारं अन्वये । औकारोऽन्मिहत् इकारस्वामतः स्थितः इकारं अन्वये । इकारोऽन्मिहत् सानुस्वारस्वामतो(रे)स्वामतोऽन्तरमवस्थितः अनुस्वारमेव अन्वये । यथा पूर्वपाठया प्रथमस्य अकारस्य, सप्तमस्य च अकारस्य प्रयोगे षण्, तथा तृतीयस्य इकारस्य, मध्यमस्य औकारस्य प्रयोगो वर्धितो यथाऽऽहर्षः ॥ ३१७ ॥

अभिपाहपसु छद्मे, ह्वइ ह्यारो हु अद्मो णमो । [१ १९१ प १]

इ ठ चतु तद्द्वयाणुणासा, वसमसरे तिष्णि ऊ मममा ॥ ३१८ ॥

इकारोऽन्वतोऽन्तरमवस्थितेन औकारो(रेषा)मिहत्सो इकारं प्राप्नोति । मकारस्वामतोऽन्तरमवस्थितो षकारः अनुर्षवकारं प्राप्नोति । इकारो इकारमेव सुष्ठुः इकारं व(ह)कारं प्राप्नोति । 'अवमा'अन्व पक्षान्तपर्याय [१] ॥ ३१८ ॥

पठम-तद्द्वयाणुणासा, षज्ञा य दोण् पि अंतिमसराण ।

बाष्वा(पार्श्व)अद्मो करणो, णामेण य(?) ह्यमोहिओ एस ॥ ३१९ ॥

प्रथमो इकारः अनुस्वारेण अकारेण सुष्ठु इकारं प्राप्नोति । इकारः सविसर्गः इकारं अन्वये । तृतीयो इकारः सानुस्वारो[१ १९१ प २] इकारं अन्वये । षकारः सविसर्गः अकारमेव अन्वये । षकारः सानुस्वारः इकारं प्राप्नोति । ष(ह)कारः सविसर्गः सकारमेव अन्वये । इकारः सानुस्वारः सकारं प्राप्नोति ॥ ३१९ ॥

॥ श्राद्धिदातिकरण समाप्तं । अन्वमोहिर्न माम समाप्तम् ॥

उत्तरसरसंजुत्तो, जइ उत्तरवंजणो य दीसेज्जा ।

पावइ य पढमवग्गं, अहरस्सरसंजुओ तइयं ॥ ३२० ॥

उत्तराः के ? 'अ इ ए उ' इत्येतेषा चतुर्णामन्यतमेन युक्तः] प्रथम-वृतीयवर्गाक्षराणां क च ट त प य शा ना, ग ज ङ ढ व ल सा ना अन्य[५० १९३, पा० १] तमोऽक्षर आत्मीयं वर्गं लभते । यथा 'कि' क ख ग घा नां मध्येऽक्षर प्राप्नोत्युत्तरानुबलितत्वात् उत्तराक्षरम् । एवं सर्वत्र । अधर-
स्वराः के ? 'आ ई ऐ औ' । एषां चतुर्णामन्यतमेन स्वरेण युक्तः तेषां प्रथम-वृतीयवर्गाक्षराणां अन्यतमाक्षर वृतीयं वर्गं प्राप्नुवन्ति(प्रोति) । यथा 'की' ट ठ ड ढा नां वृतीयवर्गाक्षराणां मध्ये ढकाराक्षरं प्राप्नोति ॥ ३२० ॥

उत्तरसरसंजुत्तो, पंचमवग्गं तु पावए अहरो ।

अहरस्सरसंजुत्तो, सत्तमं पावए अहरो ॥ ३२१ ॥

उत्तरस्वराः के ? 'अ इ ए उ' । एतेषा [५० १९३, पा० २] चतुर्णामन्यतमेन युक्तोऽधराणां ख छ ठ थ फ र पा णा, घ ङ ढ ध भ व ह्ना चान्यतमाक्षरः पंचमवर्गं लभते । यथा रकारस्यो-
परिगतोऽकारः पंचमवर्गाक्षरं प्राप्नोति । उत्तरानुबलितत्वादुत्तरम् । एवमन्येऽपि । तथा घकारो-
ऽप्युत्तरस्वरसयुक्तः पंचमवर्गाक्षरं [५० १९३, पा० १] लभते । एव सर्वेऽधरा उत्तरस्वरसयुक्ताः
पंचमवर्गं प्राप्नुवन्ति । अधरस्वरा 'आ ई ऐ औ' एतेषा चतुर्णामन्यतमेन युक्तः द्वितीय-चतुर्थ-
वर्गाक्षराणामधराक्षराणामन्यतमः सप्तमवर्गं प्राप्नुवन्ति(प्रोति) । यथा रकारो अधरस्वरसयुक्तः]
स[प्तम]वर्गं प्राप्नोति । अधरानुबलितत्वादधरः । एवं लका[५० १९३, पा० २] रोऽधरस्वरसयुक्तः]
सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति । तत्राप्यधरम् । तथाऽधरोऽप्यधरस्वरसयुक्तः] सप्त[म]वर्गं प्राप्नोति ।
तत्राप्यधराक्षरम्(१) । एव फ र पा इति । तथा घकारः सप्तमवर्गं प्राप्नोत्यधरानुबलितत्वाद्-
धराक्षरम् ॥ ३२१ ॥

एवं लभंति पढमं(मे), वग्गे सरवंजणेहि संजुत्तो(त्ता) ।

उत्तर-अहराणुवला, लभंति पुढावरं वग्गं ॥ ३२२ ॥

यथा प्रथमवर्गे सु(स्व)राक्ष[र]सयुक्ता लभंति अक्षरान् तथाभिहितं पूर्वमेव । ते च
स्वरा उत्तरानुबलितत्वादुत्तराक्षरं प्राप्नुवति । [५० १९४, पा० १] अधरानुबलितत्वात् अधराक्षरं
प्राप्नुवंतीत्येतदपि पूर्वोक्तं पुनरनेन स्थिरतामापादयता वर्णितम् । पूर्वं इत्युत्तराक्षरं उच्यते । अपर
इति चाधरो भण्यते ॥ ३२२ ॥

उत्तर-अहरसरो वा, लग्गो जो जंमि वंजणे होज्ज ।

उत्तर-अहराणुवला, लभंति तइ(ई)यसरं तत्तो ॥ ३२३ ॥

उत्तरस्वरा(र) इकारः, अधरस्वर ईकारः] उत्तराक्षरै[र]धरो(१) विलग्न उत्तराक्षरैः उत्तरो
विलग्नः] तस्माच्चृतीयस्वरं प्राप्नोति । इकार[.१] वृतीयस्वरं प्राप्नोति ॥ ३२३ ॥

॥ उत्तराधरसंपत्करणं समाप्तम् ॥

१ 'उत्तराक्षरैश्च उत्तरो विलग्न, अधराक्षरैरधरो विलग्नः' इति मन्यं मूलानुसारेण ।
नि० शा० १०

पठमो तद्व्यो य सरो, पण्हाईए सम ककारेण । [१ ११५ व २]

अइ दीसइ सो लस(म)ए, कवग्गए अक्खरं एणं ॥ ३२४ ॥

प्रभाक्षरानामासौ ककारेणान्तित्वाप्रतोऽर्जतं वरा प्रथमः सत्तः अकारो टवर्णे उदा
अकार[ः] ककारं प्राप्नोति । एतीपखरेण पुच्छ[ः] सत्तर आसित्तिप्रजाक्षरानां ककारेणार्थिकमक्षरं
अमते । अत्तएतुबलित्त्वात् अत्तएम् । एवमन्त्येऽपि प्रथम-एतीपवर्गाक्षर[ः] प्रभाक्षरान्त्यमसित्ता
अकारे(ए)प्रतोऽर्जतरमवसित्ता इकारेण वा पुच्छ(या) खवर्गाक्षरं अमते ॥ ३२४ ॥

एएहि चेव सहिओ, लहइ खकारो खवग्ग एण्णेकं ।

तइय-अरिमा [१ ११५ व १] सवग्गे, लहइ अकारो टवर्गमि ॥ ३२५ ॥

प्रथमखरेण अकारेणामतोऽर्जतरमवसितेन इकारेण वा पुच्छ ककम[ः] खवर्गाक्षरमक्षरं
अमते । अत्तएतुबलित्त्वात् अत्तएम् । एतीपवर्गाक्षरानां ग व ड द व ड सा मं अरिमाणां अम व व
मा मां अन्वतमोऽस्यते अकारेऽप्रतोऽनतरमवसिते इकारेण पुच्छ[ः] खवर्गाक्षरमक्षरं अमते । अत्तए-
तुबलित्त्वात् अत्तएम् अकारे(ए)स अकारेऽप्रतोऽर्जतरमवसिते इकारेण वा पुच्छे अकार(ए) अर्ध-
वर्गमक्षरं प्राप्नोति अत्तएतुबलित्त्वात् अत्तएमेवेति । [१ ११५ व २] गाथाइत्यन्त्ये अर्थे अन्वत्याव
अकारेण इर्धमे(इर्धमे) रचना - क का(अ) सि ग एता एव खरो(ए) अकारेणुच्छे वरा उदा प्रथम
अरेण अकारं अमते । एतीयेन व(अ)काएम् । अकारोऽप्रत्तत्वाद् द्वितीयवर्गा(र्ध)मक्षी काच्छ
बलित्त्वाद् अक्षरकथितः । रचनापूर्वकवर्गा अक्षरात् ख छ टि व । तथा अक्षरः प्रथमखर(ए)
पुच्छः इकारं अमते, एतीकमुच्छः अकारं । रचना - व ड डि ड(ड) । एवं अर्धवर्गादीनां अक्षरवर्गादीनां
अक्षरवर्गादीनां अर्थे[ः] रचनानामाव इर्धमे(इर्धमे) अर्धवर्गा अ इ पुच्छ अ वा सि ख ।
अस्मावाः - अ वा सि ख । अस्मावाः - अ वा सि ख । अस्मावाः - इ व सि ड(व) । एवं अर्धव-
र्धवर्ग-रचना । इ ड टि ड । अस्मावाः - ठ व टि ड । अस्मावाः - इ ड टि ड [१ ११६ व १]
अस्मावाः - व ड मि ड । अस्मावाः इ व टि व । अर्धवर्गा रचना - व व टि ड । अस्मावा -
व व सि प । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अर्धवर्गा -
प प सि प । अ व सि व । अ व सि व । प प सि व । म ड सि व । अर्धवर्गा रचना - व व सि व ।
अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अर्धवर्गा रचना - व व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।
अ व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अस्मावाः - व व सि व । अ व सि व । अ व सि व ।

सत्तम-णवमेहि समं, लहइ ककारो खवग्ग एण्णेकं ।

तइय-अरिमा सि एव, खटवग्गे प तवग्गे य ॥ ३२६ ॥

प्रकारो ककारः सप्तमेन एकारेण पुच्छः तवग्गे व(ओ)कारेण पुच्छः अर्धवर्गा [१ ११६ व २]-
वर्गमक्षरं अमते । तथा एतीयो गकारः, अरिमो अकारः सप्तम-अवम-अत्तएतुः अर्धवर्गादीना-
क्षरम् । एवमुच्छ इति । तथा अक्षरः सप्तमेन अक्षरेण वा अरेण पुच्छ अर्धवर्गाक्षरमक्षरं अत्तएतु-
बलित्त्वात् अत्तएम् । तथा अक्षरः सप्तमेन अक्षरेण वा खरे[व] पुच्छः अर्धवर्गाक्षरमक्षरं अमते
अत्तएतुबलित्त्वात् अत्तएमिति ॥ ३२६ ॥

सेसाण वि एस कमो, चादीणं अट्टमा[५० १९७, पा० १]वसाणाणं ।

अहरुवि(व)रि एक्केकं, परिहा[य]इ वट्ट(डु)इ अहरो ॥ ३२७ ॥

प्रस्तारेणास्यार्थो वक्ष्यितव्यः । शेषाणामप्येष क्रम इति । प्रभाक्षराणामादिस्थितस्य ककारस्य चकारस्य वा चकारेण वा ककारस्य युक्तस्य यथावस्थर्गाक्षरलाभ उक्तः । चादयोऽपि हकारान्ताः सप्त सप्त प्रस्त(स्ता)रेणयुक्ता उकारयुक्ता[.] पूर्ववत्सवर्गादेकमक्षरं लभन्ते । उत्तराक्षरो- 5 ऽधरस्वरयुक्तः परिहीयन्ते(ति) [५० १९७, पा० २] अल्पसंख्यो भवतीत्यर्थः । अधराक्षरोऽधरस्वर- युक्तो वद्धते बहुसंख्यो भवतीत्यर्थः । एतच्च विस्तरेण वर्णितमिति नोक्तम् ॥ ३२७ ॥

आकारीकारेहिं, लभइ समेओ ककारो [य] चवग्गे ।

तइय-चरिमादि एवं, लभइ खकारो य-ट-तवग्गे ॥ ३२८ ॥

ककारः आकारेण युक्तः चवर्गादेकमक्षरमधरानुवलितत्वाद्[५० १९८, पा० १]धरं प्राप्नोति । 10 ककार ईकारेण युक्त[ः] टवर्गे अधराक्षर अधरानुवलितत्वात् । एव मृतीयगकारः, पंचम- ड(ड?)कारः क्रमेणाकारयुक्तः चवर्गाक्षरं, ईकारेण युक्तः टवर्गाक्षर अधरं अधरानुवलितत्वात् । लकार आकारेण [युक्तः] टवर्गे अधराक्षरं प्राप्नोति । प(र)कार इ(ई)कारेण युक्त[ः] तवर्गादेकमक्षर [५० १९८, पा० २] लभते अधरानुवलितत्वाधरम् । एवं द्वितीयवर्गाक्षराः शेषाः 15 लकारेण क्रमेणाकारयुक्तास्तृतीयवर्गाक्षराणि लभन्ते । इ(ई)कारयुक्ताश्चतुर्थवर्गाक्षर प्राप्नोति 15 (भ्रुवन्ति) अधरानुवलितत्वाद्वाधरम् । अन्यगाथया अनुमेवार्थं प्रस्तार्थते - ककार आकारयुक्तः ईकारयुक्तश्च क्रमसः(शः) चवर्ग-टवर्गौ लभते । यथा - का च की ट । अस्याधः [५० १९९, पा० १] लकार-थकाररचना - खा ट खी थ । अस्याधः - गा च गी ठ । अस्याधः पकारः आ(आई?)कार- युक्तश्च । त-पवर्गौ प्राप्नुवन्तः (प्राप्नोति) ॥ ३२८ ॥

तदर्थगाथामाह -

त-पवग्गेसु घकारो, दोसु वि एक्केक्यं लभे कमसो ।

सेसाण वि एस कमो, चादीणं सव्ववग्गाणं ॥ ३२९ ॥

घकार आकारयुक्तः तवर्गादधराक्षरमवाप्नोति । घकार इ(ई)कारेण युक्तः पवर्गादेकमवा- 20 प्नोति । क(ी)कारादयश्चतुर्थवर्गाक्षराः शेषाः पद् आकारेण युक्ताश्चतुर्थवर्गाक्षरं प्राप्नुवन्ति । इ(ई)कारयुक्ताः पंचमवर्गाक्षरानधराक्षरा[च.] लभन्ते अधरानुवलितत्वात् । यत्तौक्त(थोक्त)क- 25 [५० १९९, पा० २]मिण । एवं च चकारादयो हकारान्ताक्षरा आकारेण ईकारेण वा युक्ता यथा प्राप्नु- वन्ति वर्गाक्षर(रा)स्वाभिहित (हिं ताः ।) प्रस्तारोऽत्र लिख्यते - अनन्तरस्याधस्तात् - पा थ पी भ । एवं ङाकारः चकारं । डी टकारम् । स्थापनादनन्तरस्याधस्तात् - ड च डी डा । एवमेतौ द्वितीय- चतुर्थमात्रौ शेषवर्गानुसारे(सार)तोऽपि चक्तव्याद्या(ज्यौ या)वत् स्ववर्ग [५० २००, पा० १]इति 30 पूर्वत्या गाथया चवर्ग आर्द्धक्रान्तक्रमेणेति ॥ ३२९ ॥

क-च-टादीनां पढमा, चरिमो(मा) य समं लहसु (हं तु) कारेण ।

लभइ तवग्गे एवं, साणुस्सारे य सविसग्गे ॥ ३३० ॥

ककार(ी) कचट वर्ग-त्रयस्य ग्रहणम् । आदिशब्दाच्छेषवर्गाणामपि कवर्ग-चवर्ग- 25 दवर्गस्य च प्रथमाः । ककार-चकार-टकारोचे(राश्चै)वम् । एते प्रभादौ उकारेण सह दृश्यमानाः

१ 'भसावेवार्थः प्रस्तायेते' अथवा 'अनुमेवार्थं प्रस्तारयति' इति नश्यम् ।

- [१ २ ३] किं छमंत इत्यत आह—पञ्च कडाया उच्चरयुक्ताः पञ्चरं छमंते । पञ्च उच्चारेण युक्तः पञ्चारम् । उकारः सकारम् । माभासंख्यानिमित्तेन द्वेषवर्गीयामपि चरयाः । पञ्चमेव क्रमेण—उ म न एते उच्चरयुक्ता एत एव छमंते(न्ते) । यथा उच्चर पञ्चार(ः) उच्चर उच्चरं पुञ्चार सञ्चारं [१ २ १ ३ १] रचना—ऊपुबुवदुग(स) । अस्मापञ्चात्—सुप डुरदुप ।
- १ अस्मापञ्चात्—सु ञ । पु ङ । हु स । एतः पञ्चमाः—सु प । सु प । सु स । अस्माः चतुर्यः—सु म । हु ष । हु ह । एवं छविबन्(ः) उच्चरत्वात् एव रचना ककारस्यापि उकारस्य च । 'उ' य टा ईत्वं पद्यया चरिया न सर्वं उच्चारेणे'ति गान्धायाः [१ २ १ ३ १] व्याख्यातः ॥ 'तथा' उपमेयं इत्येतत्पूर्वं व्याख्यायते—'त पञ्चम(स) चतुर्योमेयां चतुर्योनां छविबन्(ः) अस्मिन्व्यायेन यथा उच्चर पञ्चर-उच्चर-सकाराणां उच्चरसद्वितानां क्रमेणैव छवियाः । केवां ! उच्चर-उच्चर उच्चर-उच्चरत्वं
- २ आपनात् । अ पु क । पु क । सु ठ । अस्मा हु षा । कु टा क ठ पु । ठ । अस्मायाः—डु ह । पु ग सु । अ सु न । अस्मापञ्चात्—तु ष । सु बा । पु म् । तु न । अस्मायाः—डु ई । सु ष । पु क । हु ह । एवं यथा त पञ्च वर्गीयस्य रणां छविबन्(ः) ककारेण सह तथा द्वेषाभ्यमपि । यथा—उच्चारेण सह छवि[ः] बन्धस्या इति । व्याख्यातमेतत्पूर्वं [१ २ २, ३ १] 'छमन्ति' सर्वो एव'मिति । 'तानुस्तारे य तस्मिन्मो' इत्यस्य गान्धापञ्चात्स्य व्याख्या कु(कि)पते—उचर्य-उचर्य-
- ३ उचर्योऽप्याः उच्चर-उकार-उकाराः सानुत्वात्पाः—कं बं ई एते पूर्ववद् यथा उच्चरसद्विद्य छमन्ते । एव बिदुविसर्गाभ्यां अपि । निम्नोर्मुक्तस्योदाहरणम्—ककार[ः] निम्नसद्विद्य उच्चरं छमंते, 'बं' इत्येवा(ष) प(ब)ञ्चारम्, 'ई' इत्येव सकारम् । सापञ्चा—कं ष । बं ष । ई स । अस्मायाः—रं ष । छं र । छं प । अस्मायाः—म ष (गं ष) । बं ष । ई स । अस्मायाः—पं ष । छं ष । ई ह । अस्मायाः—डा म सु ड ष (रं म । मं प) । नं स । उच्चरं समासात्पठति । अचर
- ४ सु(सु) अपरमेव । सविसर्गोन्नि(ये)र्बं यथा—का प । वा ष । डा ष । [१ २ २, ग २] अस्मायाः—टा ष । छार । ब(ठ)ः ष । अस्मायाः—गा ष । जा ङ । डा स । अस्मायाः—डा म । वा ष । वा ष । अस्मायाः—पा र्भं । सा ष । डा ह । यथा परां सानुत्वात् (स)-विसर्गाक्रमेण छविबन्धय यथा 'त पञ्चम' इत्येतेषामपि प्रथ्याः—म(ठ) अ । पं क । बं ष । छं(ठ) ह । अस्मायाः—बं षा । पं(कं) ग । रं छ । [बं ङ] पं ह । पं(षं) ग । मं(कं) अ ।
- ५ मं ह । अस्मायाः—नं षा । मं दा(ह) । बं षा । गं(छ) वा । [१ २ २ प १] अस्मायाः—पं ई । मं प । व स । ई ह । सविसर्गो(मो)न्नेर्बं यथा—टा अ । वा क । वा ष । टा ह । अस्मायाः—पा षा । का प । टा छ । वा ठ । अस्मायाः—दा ह । पा ष । [वा ग] । टा ज । टा ष । अस्मायाः—मा अ । मा ह । वा प । सा न । अस्मायाः—पा ई । मा प । वा स । दा ह । सानुत्वात्-विसर्गावेष्टी । अचर्याऽप्यथा रचनाक्रमेण शुद्धपाठ(ः) ॥ ३३० ॥

१ इत्यन्ते एतन्नीचनस्योत्पत्त्या प्रकृतपाठनिश्चय उच्यते न्योऽप्युक्तौ शोडशेणु इत्येतेषु अत्राने अस्मायाः—रं पद्यः ।

| सानुत्वात्पां उचरणां व्याख्या- | सविसर्गोन्नि उचरणां व्याख्या | सानुत्वात्पां उचरणां व्याख्या- | सविसर्गोन्नि उचरणां व्याख्या- |
|--|--|--|--|
| १ उ च र यं व रं हं २ वा ष कं व रं प ३ वा ष अ रं हं ४ वं ष अ ष रं हं ५ उ च र यं व रं हं | १ उ च र यं व रं हं २ वा ष कं व रं प ३ वा ष अ रं हं ४ वं ष अ ष रं हं ५ उ च र यं व रं हं | १ उ च र यं व रं हं २ वा ष कं व रं प ३ वा ष अ रं हं ४ वं ष अ ष रं हं ५ उ च र यं व रं हं | १ उ च र यं व रं हं २ वा ष कं व रं प ३ वा ष अ रं हं ४ वं ष अ ष रं हं ५ उ च र यं व रं हं |

कचया(टा)दीपं पठमो, चरिमो य समं लभंतुकारेण ।

लभद्[५० २०३, पा० २] तवग्गे एङ्कं, साणुम्सारे य सविमग्गे ॥ ३३१ ॥

‘कचटादि’ इत्यनेन कचटत्तपयशा ना प्रथमो वर्गः । तृतीयस्वराः(वर्गः) गजट दृषलसानां । पद्मगं ह्रजणनमा । एतमेवादिप्रमाणं समर्थितं भवति । एते कचटा वयः उकारसहिता यथा—कुचुटुतुपुयुशु । मनो(गते?)धन्वान पचमवर्गोत्तरान् लभन्ते यथा—तपय स(श) । अकचट । तृतीया[५० २०४, पा० १]स्तु गजटा वयः उकारसहिता यथा—जुगु(गुजु) डुदु(वु)लुसु । एतेऽपि त्य(स्य)स्मान् क्रमेण पद्ममो पद्ममो लभते(?) दृषलसगजटदृषा (हास्यः) । अंत्वा उकारयुक्ता यथा—कुचुणुनुसु । ग(य)वर्ग-शवर्गयोः पद्ममं क्रवाशब्दः, हिकाशब्दश्च । प्रश्नफले तापपि श्रुत्वा पंचमस्य य-सवर्गप्राप्तिर्भवति । यथा—मय य सटु । क्रय-शब्दः, हिकाशब्दः[५० २०४, पा० २]दृश । गते सप्त । “कचटा दीपं पठमो तद्वगो चरिमो समं उकारेण लभद् तवग्ग” इत्येतद् व्याख्यातम् ॥ ३३१ ॥

ख-छ-टादिएहि सहिया, एते उ हवंति छट्टए वग्गे ।

घ-झ-टाइएहि सहिया, सत्तमवग्गे लभे एङ्कं ॥ ३३२ ॥

यकार उकारयुक्तः पष्ठे पवर्गोऽभ्यन्तुत्तरं प्राप्नोत्युत्तरानुयलितत्वात् । छरार उकारयुक्तः शवर्गो उत्तरानुयलितत्वाद्दुत्तरम् । टकार उकारयुक्तः अवर्गो उत्तरानुयलितत्वात् उत्तरस्वरम् ॥ एवं य फ र स्वा(पा)[अ]पि । सकारः अनुस्वारयुक्तः पष्ठे पवर्गो उत्त[५० २०५, पा० १]राक्षर लभते । स एव सविमर्गो युक्तोऽधरम् । छकारः सानुस्वारः सवर्गो उत्तरभवाप्नोति । धकारः सानुस्वारः अपवर्गो उत्तर लभते । विसर्गयुक्तोऽधरम् । एव छकारोऽपि [म]विमर्गयुक्तो यवर्गोऽधरमिति । एवं य फ र पा वक्तव्याः । एव गाथाप्रागर्दशक्त(प्रागर्दशब्दार्थः) । ‘घ छ टाइएहि सहिया’ उकारविन्दुविसर्गः । य(घ)कार ओ(उ)कारयुक्तः सवर्गो उत्तर लभते । विन्दुयुक्तः सवर्ग एवोत्तर लभते । स एव घकारः विसर्गयुक्तः तत्रैवाधरमिति । एव ऊ(झ)कार उकारयुक्तः सप्तमे सवर्गो उत्तरानुयलितत्वाद्दुत्तरं, स एव विन्दुयुक्तः [५० २०५, पा० २] तस्मिन्नेवोत्तर लभते । विसर्गयुक्तः अधरम् । एव ढकारोऽपि । एव च सर्वहा(भ घ हा) अपि स्वस्मात्सप्तम वर्गोऽधर लभन्ते ॥ ३३२ ॥

उत्तरव्रंजणसहि[या], सत्तमवग्गे लभंति सेससरा ।

अहरेहि अ संयु(जु)त्ता, लभंति अहराहरे वग्गे ॥ ३३३ ॥

उत्तराः [५० २०६, पा० १] प्रथम-तृतीय-पञ्चमवर्गोक्षराः परिशिष्टेः स्वरेः ‘ऊ ऐ औ’ इत्येते-सृ(स्त्रि)भिर्युक्ताः आत्मीयादात्मीया[त्] सप्तम ईकारयुक्तो लभ्यते । प्रश्नाक्षराणामादिस्यितस्य यदाऽप्रतः हकार इकारयुक्तो दृश्यते तदा टकार इका[५० २०६, पा० २]रयुक्तो लभ्यते । प्रश्ना-क्षराणामादिस्यितस्य यदाऽप्रतः टकार औकारयुक्तो दृश्यते तदा ढकारो लभ्यते । अधरवर्गो [अ]-धराधरमक्षर लभन्ते अधरस्वरयुक्ताः । इत्येव पञ्चाङ्गो(ङ्कं)गाथार्थः ॥

अथवाऽस्य(स्या) गाथ(था)या व्याख्या—उत्तरव्यजनशेषस्वराः ‘ऊ ऐ औ’ त्रयोऽप्येते उत्तरव्यजनसहिता यथा—कूचूटूतूपूयूशू । ऊकार अधस्तात् उत्तरव्यजनसहितो लभते क्रमसः(शः) सर्वस(?)वर्गं यथा—श अ क च ट त प । तथा उत्तरव्यजना येपु वर्गेषु अधस्तात्तुलि-

- एत्वाएवराद्यत् । तथा एतदभ्यस्तवा-गूङ्गूङ्गू [१ ४ पा १] गूङ्गू एषां कम्बि ।
 क्मेनेव स इ गज ह द वा, एषु वर्गेषु अत्राणुवस्तिवत्त्वाएवर् कम्बो । तथा गूङ्गू गूङ्गू
 क्मस(हा) सप्तमवर्गा यथा क्मेन वि(वे)अत्राणुवस्तिवत्त्वाएवरा(र)मिति । ई(वे)अत्र एत
 द्भ्यस्तवसद्विषयः यथा-कै वै दे दे वै वै है । कम्बिस्तु क्मस(हा) एषु वर्गेषु ए(त्रि)ना भवति ।
 * [†] एत्वाएवराद्यत् । सु । अ क क ठ त पा । एवं ग क का एवोऽपि देअत्राणुव
 वत्तम्या । अथ वा एवमेति । तथा क्(भौ)काणुव एतदभ्यस्तवा । औ औ औ औ औ औ
 औ(औ) । कम्बिस्तु सप्तमवर्गात् अत्राणुवस्तिवत्त्वाएवराद्यत् । अ क क ठ त पा । एवं ग क का एवो
 अथ वा एवोऽपि । एवं क्कार-देअत्र-औकाराणुवः अत्राणुव अत्राणुव [वृ] कम्बो । गूङ्गू गू
 गूङ्गू । कम्बिस्तु एते अत्राणुवस्तिवत्त्वाएवराद्यत् [१ २ पा २] प आ क क ठ त क ।
 * तथा, गूङ्गू गूङ्गू गूङ्गू । कम्बिक्रमो वर्गेषु अत्राणुवस्तिवत्त्वाएवराद्यत् कम्बिः । अ इ व ड ड व म
 यथा क्काराणुवस्तवा देवतौत्राणुवसि वाच्यमिति एवं अत्राणुवेषु कम्बे । इत्युच्ये तद्वार्त्त
 इति ॥ ३३३ ॥

लमइ ककारो ज्ञुचो, चकारखगमि तइय-वरिमेण ।

ट[त]वर्गो अइ पण्हे, दसमसरो [१ २ ४ १] तइओ यावीए ॥ ३३४ ॥

- * क्कारेण प्रमाद्यत्तामाविति(व) ईकारेण सलुकारेण युक्तः चकारिक्रमस्य कम्बो ।
 एतदभ्यस्तवत्त्वाकम्बो । प्रमाद्यत्तामाविकारकाविकल्पक यदास्य आकाराणुवो वकारो एव
 तथा आकाराणुवत्कार एव कम्बो । क्कारकाविकल्पक प्रमाद्यत् (रेणु) यदास्य [१ २ ४ पा १]
 वकारः इकाराणुवो एव एतदेव वदा क्कार एव ईकाराणुवो कम्बो । प्रमाद्यत्तामाविकल्पक यदास्य
 वकारः अकाराणुवो एव एतदेव वदा वकारो कम्बो । औकाराविकल्पक यदास्य वकार ईकार
 * युचो एव एतदेव वदा वीकारो कम्बो । प्रमाद्यत्तामाविकल्पक इकारक यथा(राऽ)मया वकार
 आकाराणुवो एव एतदेव वदा वकार आत्पानं कम्बो । प्रमाद्यत्तामाविकल्पक इकारक यदास्य
 वकार इकाराणुवो एव एतदेव वदा वकारो कम्बो । औकाराविकल्पक यदास्य वदा एव एतदेव
 वदा [१ २ ४ पा १] वकारो कम्बो । औकाराविकल्पक ईकारो वद ईकार एव कम्बो । इकार-
 काविकल्पक आत्पानं कम्बो ॥ ३३४ ॥

- * वितिय-वचत्येहि समं, सरेहि सो चैव लमइ त-यवगो ।

सत्तम-गवमेहि समं, सेसेहि समं अहरवगो ॥ ३३५ ॥

- पूर्वोच्यो अकार(का) गाव(वा)या अत्राणुवत्त्वायावदा वर्त्तिवः । प्रमाद्यत्तामाविकल्पक
 चकारकाविकल्पक योकारं कम्बो । औकारक यदाविकल्पक यदास्य एकाराणुवो योकारं कम्बो ।
 औकारक यदाविकल्पक यदास्य वाकार औकाराणुवो यो(वी)कारं कम्बो । इकारक यदाविकल्पक-
 * [१ २ ४ पा २] मया इकार(वकार) वकारं कम्बो । इकारक यदाविकल्पक यदास्य यो(दी)कार
 योकारं कम्बो । इकारक यदाविकल्पक यदास्य विता[वकार] योकारं कम्बो । इकारक यदाविकल्पक-
 काविकल्पक वकार योकारं कम्बो । इकारक यदाविकल्पक यदास्य [वकार] योकारं कम्बो ।
 इकारक यदाविकल्पक ॥ ३३५ ॥

वितिण्ण य संजुत्तो, चकारवग्गो लभइ [५०२१०, पा० १] तइयवग्गो ।

प-यवग्गो पुण लब्भइ, चत्तारिस(म)ण्ण संजुत्तो ॥ ३३६ ॥

चकार एकसंख्याक[क:], ककारोऽप्येकसंख्य एव । ततः संयोग[द]र्द्धक्रान्तिकसंज्ञः । कस्मात् । तुल्यसंख्यत्वात् । यथा 'क्व' । स यत्रतत्रस्थः प्रभे ष्व(स्व)वर्गान् प्राप्नुतः (प्राप्नोति) । टकारः ककारयुक्तोऽर्द्धक्रान्तिकसंज्ञः यथा 'ट्' । स यत्रतत्रस्थः प्रभे पवर्गं प्राप्नोति । चतुर्थतकारेण युक्तः [५०२१०, पा० २] ककारोऽर्द्धक्रान्तमापन्नो यथोक्तः स यत्रतत्रस्थे(स्थः) प्रभे तृतीयवर्गं प्राप्नोतीति ॥ ३३६ ॥

जो अ ककारे गमओ, भणिओ सो चेव तइय-न्वरिमाणं ।

आइम-तइयामिहए, लभइ तकारो हु त-पवग्गो ॥ ३३७ ॥

यथा ककारः प्रथमस्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः सवर्गाक्षरं लभते । एवं तृतीयवर्गाक्ष- राणां ग ज ङ द व ल सा नां, चरि[५०२११, पा० १]माणं ङ ञ ण न मा ना चान्यन्तमाक्षरप्रभे प्रथम- स्वरेण तृतीयस्वरेण वा युक्तः आत्मीयवर्गेऽक्षरमवाप्नोति उत्तरानुबलितत्वाद्दुत्तरम् । खकारः प्रथमस्वरेण युक्तः तवर्गेऽक्षरमेकं प्राप्नोति उत्तरानुबलितत्वाद्दुत्तरम् । स एव खकारः तृतीयस्वरेण युक्तः पवर्गेऽक्षरमेकमवाप्नोति उत्तरानुबलितत्वाद्दुत्तरम् ॥ ३३७ ॥

लभए वीव(इ)यजुत्तो, चकारवग्गो य तइया[५०२११, पा० १]वग्गं च । ॥ ३३८ ॥

चत्तारिमण्ण समं, लभइ यकारो पवग्गं उ ॥ ३३८ ॥

चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः टवर्गं प्राप्नोति । यकारश्चतुर्थस्वरेण य(प)वर्गं लभते ॥ ३३८ ॥

जह भेओ उ चवग्गो, तह य कवग्गंमि चेव णायवो ।

एवं चिय दा(ता)दीहिं, सरेहिं भेओ मुण्येवो ॥ ३३९ ॥

यथा चकारो द्वितीयस्वरयुक्तः तृतीयं वर्गं प्राप्नोति एव्यं(वं) ककारोऽपि द्वितीयस्वरयुक्तो द्वितीयं वर्गं प्राप्नोति । तकार-चकाराप्येवमेव ॥ ३३९ ॥

एमेव सेसयाणं, चादीणं अट्टमावसाणाणं ।

सरवग्गाण य जोगो, अद्धकंतकसो होइ [५०२१२, पा० १] ॥ ३४० ॥

एवं यथा प्रथमवर्गः शेषाक्षराणां शकाराष्टसप्तं(ष्टमा)ताना तृतीयवर्गाक्षराणां ग ज ङ द व ल सा नां चतुःसख्यानामाक्षराणा यः संयोगः सार्वं(आर्द्ध)क्रान्तिकसंज्ञः । तस्य संयोगस्य अधस्तात् षोऽक्षरः स तृतीयवर्गं प्राप्नोति । तुल्यसंख्यस्य स्वरस्याक्षरस्य च यः संयोगः सोऽप्यर्द्धक्रान्तिक- संज्ञः । अः तृतीयवर्गं प्राप्नोति ॥ ३४० ॥

पण्हाइमसंखाए, सव्वे पण्हक्खरे गुणेऽणं ।

उवरिल्ले पक्खेउं, आइल्ले अट्टहिं विभाए ॥ ३४१ ॥

सेसं वग्गे णामक्खरं होइ ।*

जइ पुच्छइ कं म(स)रं तो, करेज्ज अहा[५०२१२, पा० २]रुत्तरं कमसो ॥ ३४१ ॥

* मूलादयो अस्या णामक्खरा एव पूर्वार्द्धे उपलभ्यन्ते । खण्डितमाय इत्यामाति ।

प्रमाहृतमप्ये षष्(प)रिखण्यं संदवा षपरिमात्रारहितानां च संयुक्तमण्डपं वा षर्ष-
 षरसंभवा वामेष्ठीहस्य दूषण(ह) स्थापयेत् । परिष(दि)धानां प्रमाहृतानां विषयमावरणरूपं च
 वा संदवा वामेष्ठीहस्य स्थापयेत् । अथ षट्पद षष्(प)वर्गाणां बसु-मुनि-रस-स(ध)र-सायण-पि-
 यम-बन्नाः कमसो(भो) शुभकार[१] । प्रमाहृतानां मात्रापक्षर प्रतिबद्धो गुणाधरः, तेन गुन-
 ५ दिक्वा स्थापितं अष्टोत्तरसंख्यासुपरि[१] २११ च १] लघुवर्गं दूषण स्थापितं तत्रैव प्रविष्ट-
 मिमांशेऽपहृते अष्टाष्टेषाश्च द्वौ वर्गौ अम्ब(म्बे)ते । सप्तवर्गो पदाभिध(क)तरासाभि
 पुनर्मांशे हृते अष्टाष्टेषाश्च(च)द्वौ वर्गौ पुनर्अम्ब(म्बे)ते । कदाप्युक्तो अष्टवर्गः शेषाश्च
 द्वेषा ॥ ३४१-३४२ ॥

पुमेभ सेसवग्गे, षामकत्तरपा(या)ण ह्यह् एक तु ।

५ जह् इच्छसि स करण, करणे(रे)श्च अधराधर तत्तो ॥ ३४३ ॥

तत्र शेषवर्गाक(श्री)षष्(प)वर्गाश्च एकेकं प्रमाहृतं अम्बते । प्रमाहृतानां निपटितानां मध्ये
 पूर्वोक्तान्तररूपेणाहस्तुत्तरमन्तरं बाधार्थं ॥ ३४३ ॥

॥ वर्गाक्षरसंयोगो १०-११६, च १] गोत्पादम समाप्तम् ॥

अत्यु(पु)स्तार-विसम्गाविही, ण(णा)पक्षो होह् सवओमणे(हे) ।

५ चठसु वि विसासु पूर्व, वग्गे ण(णा)मक्षतरुण्यत्ती ॥ ३४४ ॥

सर्वतोमत्र[१] प्रत्यासंभवेण न अक्षरते वक्ष्येति नुम् । अनुस्वारविसर्गाप्रभेदेन द्वेषकृत्यापदि
 सुचना कृता । अतो स्वजनस्वरयोगाश्च(च)दुर्ध्वेति विदु(स्व)क्षरपाठमिक्वा सुखदुःखकामाकाश-
 धीवितमरजाद्यपि नामासुरोत्पत्तिरपीति प्रकारेण वक्ष्ये(सर्व)त इति सर्वतोमत्रक महाक्षरस्य(च)न
 सूक्ष्मप्रतिबद्धाक्षरमा(म्बा)वत्पञ्चवक्ष्येति(त्वं) न्यासमात्रं [१ ११४ च १] वंकि वंकि(१)

५ विक्ष्यते । तत्र सूक्ष्मप्रतिबद्ध अक्षरमक्षरमध्ये अक्षर तस्य पूर्वता एकारः । द्विपिता ऐकारः ।
 अपरता इकारः । चत्तरता औकारः । त्रितीयवर्गे पूर्वविपिति अथ षट्पद षष् । सुष्ठोपवत्ये
 द्विपिपति वा य उठवत्करव । चतुर्थे अपवति इ गजवत्करव । पंचमै वत्तपति व
 वक्षवत्करव । मूयाः षष्ठावत्ये पूर्वति नावित्त-मौम-शुक्-शुच-शुद्ध-अभि-बन्-गुह-वर्षत्वा
 महा । सुर्पा(वं)मौसांशु(वरे) पुनर्वसु-मुत्पा-सेवा । मौयशुक्लन्तरे महा प्यशुलीहर्षं च ।
 ५ ह्येक इत्यः । सुकजु[१ ११४ च १] शब्दरे विना लाटि विधाता । शु[१]हृप(रत्स)शब्दरे
 अनुपवा अष्टममूकानि । हृदस्यैश्वर्यतरे आपादाऽभिहितवच । हृदस्यशोपरि पूर्वोपादा ।
 सौम्यतरे वसिष्ठा अतमिवा पूर्वमाहृपरा । चन्द्रोपरि वत्तपमाहृपरा । चन्द्रपह् न(च)न्तरे
 रेवती अधिबी मरणी वेति । राशुसूर्यान्तरे वसिष्ठा [१-११५, च १] रोहिणी वृणसिचयेति ।
 सुर्वोपरि आर्द्रा । प्यह् षष्ठावत्ये पूर्वविगावितः ॥

५ देव कथय पद । ह्या चठवत्तस्य । सिधुन ह्योपरि व(गी)कारः । अक्षरशेपरि
 सिधुनः । द्विपिपता कर्कटकः । तता वक्षवत्करव अक्षरशोपरि सिहा । तवदधन वक्षर
 शोपरि कम्पा(म्बा) । अक्षरविसा(श्री)यां तुल्या(धा) । षष्(प)वर्गमन [१ ११५, च १] अक्षर

सोपरि वृद्धिक। यरलव पंचमोऽयं कुंथशब्दे लकारोपरि घनुः। उत्तरतो मकरः। शपसह
 पचमोऽयं हिंक्रुतः शब्दः शकारोपरि कुम्भः। कखगघङ गकारोपरि मीनः। एवं सप्तमा-
 वरणम्। अष्टममिदानीं—पूर्वादितः कचछजझव। वटठडढण। चतथदधन। पफ
 वभम। दयरलव। शपसह। तकखगघङ। चछजझव। एवा(वम)ष्टमम्। नवमं
 इदानीं—पूर्वादितः चटठडढण। यतथदधन। पफवभम। शयरलव। तशपसह
 ह। ककखगघङ। पचछजझव। चटठडढण। दशममिदानीम्—टतथदधन। शप
 फवभम। तयरलव। कशपसह व। पकखगघङ। चचछ[प० २१६, पा० १]जझ
 व। यटठडढण। कतथदधन। एकादश(म)मिदानीं—तपफवभम। फयरलव।
 पशपसह। घशकखगघङ। जचछजझव। नपटठडढण। तथदधन।
 कपफवभम। द्वादश[म]मिदानीम्—पयरलव। शपसहव। यकखगघङ। टचछ
 जझव। शटठडढण। तयदधन। कपफवभम। पयरलव। त्रयोदश[म]मिदानीम्—
 यशपसह। टकखगघङ। शचछजझव। तटठडढण। कतथदधन। पफवभम।
 वयरलव। यशपसहव। चतुर्दश[म]मिदानीम्—शअ, कआ, खइ, गई, घङ(ङी), वउ
 (ङी), तए, चए(ऐ), छउ(ओ), जऊ(औ), झअं, वअः। कअ, टआ, ठइ, द(ढ)ई, ढउ,
 णज(ऊ), पए, वऐ, पओ, दऔ, घअं, नअः। च[अ], पआ, फइ, वई, [प० २१६; पा० २] ॥
 भउ, मऊ, यए, रऐ, वउ(ओ), लऊ(औ), वअ, ढअः। दअ, [श] आ, [श]इ, सई,
 हउ, खज(ऊ), गए, कऐ, खउ(ओ), गअ(औ), घअं, गः(ङ)अः। पंचदश[म]पूर्वादितः
 अकचटतपयश। ए। ऐखछठथफरप। आ। इगजडदधलस। ओ। औघझढ
 ध्रुमवह। ई। अकचटतपयश। ए। आखछठथफरप। ऐ। इगजडदधलस।
 ईघझढधभवह। औ। एवं पचदशावर्ण(रण)पर्यन्तोऽयम् ॥ ३४४ ॥ [प० २१७, पा० १] ॥

॥ सर्वतोभद्रः समाप्तः ॥

सर्वतोभद्र इति ग्रहरि(ऋ)क्षराशयक्षरविधानेन येन केनचिद् यथादिस(श)मायातस्या-
 देस्यो(श्या)क्षराण(णि) च ब्राह्मणि। अन्यत्र विधान इति। मंगलार्थं च इह लिखितमिति ॥ छ ॥

कंठंतरिओ वि उरो, उ(प?)रभारं(वं?) सो न गच्छए मौत्तुं ।

अवसेसंति(समंत?)रिओ पुण, आइल्लमणंतरं पावे ॥ ३४५ ॥

‘अइएउ’ एते कठ्याः। एतेपामन्यतमो[प० २१७, पा० २] हकारस्ये(स्य) प्रभाक्षरादिस्यस्य
 यदाऽप्रतः तदा हकार एव लभ्यते। ‘अइएउ’ एतेपा कठ्याना अन्यतमादिस्यस्य ‘आईउऊ
 ऐऔअअः’ एतेपा अपरिशिष्टस्वराणा अन्यतमो यदाऽप्रतः स्थितमेवाद्यमन्यतरं तदा कठ्या(क्य)
 स्वरं लभते ॥ ३४५ ॥

उक्कारादिसु एवं, पढमंतरिओ ण एइ परभावं ।

अभिहमं(म्मं)तो पुरओ, आदित्त(ल्ल?)मणंतरं लभइ ॥ ३४६ ॥

उकारस्य हकारस्य प्रथमस्य प्रभाक्षरादिस्यस्य यथाऽप्रतोऽनतर ककारः प्रथमो दृश्यते
 तदा हकार एव लभ्यते। हकार(रे) ककारेणालिङ्गिते आदिस्यो [प० २१८, पा० १] हकार एव
 लभ्यते। उकारस्य फठ्यस्ययोगकरणम् ॥ ३४६ ॥

† तीस भायए सदा फाल ।

जं सेसं सा हु तिही, योच्छ णक्खत्तकरण से ॥

लद्धाओ जा तिचीओ, या(हीणा) रूपेण कण्ण(ण्ह)पक्खत्तस(स्त) ।

मुच्च पि दोहि भाण, माससनामादिरिक्खगण ॥

सर्वदा प्रभासिनी छाया राय(अ)नो इत्यथ शोरेति पंचपरचामां संज्ञा प्रभास्यत्वा । सर्वस्वो
कीदृश एव(त्रिस्त)पचयुवाक्षेपः । सर्वमानसिबियुक्तं च कृत्वा क्षेत्रं गतार्थः ॥ अथ(या)त्तुकेनेत्यथ

पढमो विसमो उ सरो, विसिओ य समो तइज्जओ सम्मो ।

विसमसमो य चठत्थो, सेसा एवं सरचठ्ठा ॥ ३४० ॥

प्रभास्यराजामादिको गच्छते विप[म] इति इकारबुद्ध गकारमेव धमते । प्रभास्यराजिको
पक्षर उ ईकारबुद्धो चकार एव धमते । चकारो विपम चकारबुद्धो चकार एव धमते ॥ ३४० ॥

एवं समवगाण, चठत्थया विसमवगायाणं च ।

णायद्वा णंतरओ, विसमा [५ २१५ प १] विसमाण सजोए ॥ ३४८ ॥

समसरे[व] बुद्धमाक्षरत्तमेव धमते । विस(व)मसरेव बुद्धे विपवाद्धो धमते ।
एवं सर्वे चकारवरो इकारवत्ताः समसरे(रे)बुद्धः समास्यत्तमेव धमते । विपमसरेबुद्ध

विपमास्यत्त एव धमते ॥ ३४८ ॥

समसजोएण समो, लभइ अ विसमो च विसमसंजोए ।

बग्गे विट्ठो एतो, भणिओ वग्गक्खरवि[५ २१५, च २]माओ ॥ ३४९ ॥

समस्यरवोगो व्यक्तं सर्वं धमते । सर्वं च विपमस्यरवोगो चत्तरत्वात् विपवाद्धो
धमते । सत्य विपम एव प्राग्ब[व]र्षः । ततोऽस्यरत्तविभक्तो ध्वितिरिति ॥ ३४९ ॥

॥ संकट-विकट समासम् ॥

वग्गक्खरा तिपु(गु)णिया, सेवो पढमक्खरस्त वग्गंमि ।

तिसु चठसु अओ अठे, तमि य णा[म]क्खर वग्गो ॥ ३५० ॥

प्रभास्यरा । एवं वर्णाक्षराः । प्रभास्यराणां विपमानत्वरत्तां वा संज्ञा क्षयैकीकृत
राजि)गुण्यं कृत्वा प्रभास्यराणां चकारादीनां इकारादीनां ध्वन्यवसादी एवा पूर्व(वि)सुमित्त-

विहात् एवं वक्षिण्य वे चकारादीनां इकारादीनां [५ २१ प १] प्रभास्यराजामन्वस्यतो एते
तज्जिमेव संज्ञा पिडावत्ता चतुर्दशित्वादिभिर्गोडपद्धते क्षेत्रे एकारादिबर्णो धमते । क्वत्तव
पुनः सप्तभिर्भोगे पञ्च(वड)व्यं च च क्षेत्रं तयोः चकारादिबर्णो धमते ॥ ३५० ॥

अक्खरसरिसा जोणी, मघासरिसं च जाणए रूप ।

एव सेण भिमचे, बग्गेण निरूथिओ भेओ ॥ ३५१ ॥

† अथा वावाया एव पूर्वार्थः । अथैवचक्रीयेव चत्तरत्वात्तद्वत्त्वं । एवं चो ८५ इति इति अथ
अथवाऽपिचतुर्दशित्वा धमते । अथर्वान्तरवेदेवेवं इत्येकीकृतं अथ चत्तरत्वात् ।

जीव-धातु-मूलाक्षरैः पूर्वोक्तैर्जीवधातुमूलयोनिनिर्देशकार्यैः(र्यं?) मात्राभिर्द्रष्टव्यम् । रूपं शुद्धं कृष्णं पीतं रक्तादि । लक्षणं दीर्घमल्प वृत्तं इति । जीव-धातु-मूलोत्तराक्षरैः पंचभिर्भेदः प्रभाक्षराणां निरूपयितव्यो वर्गप्रतिबन्धः ॥ ३५१ ॥ [प० २२०, पा० २]

पठम-तइए य चरिमा, वग्गा पासंडिया तहा भणिया ।

सेसा य अपासंडी, णिदिट्टा पण्हइत्तेहिं ॥ ३५२ ॥

प्रथम-वृतीय-पंचमवर्गाणां अन्यतमघहुले प्रश्ने पाखंडिनो ज्ञेयाः । के ते ? प्रव्रजिताः शरहन्तादयः आजीविकादयश्च । शेषाणां द्वितीय-चतुर्थ-वर्गाक्षराणां अन्यतमाधिके प्रश्ने अपाखंडिनो ज्ञेयाः । [प० २२१, पा० १] अपाखंडिन इति गृहस्था भण्यन्ते ॥ ३५२ ॥

पठमो वग्गो पासंदाहिण (दाहिणपासं?) विइ(ई)य एव चउत्ये य ।

रा(वा)मं तइए मज्झं, दो पासे पंचमं जाण ॥ ३५३ ॥

प्रथमवर्गाक्षरघहुले प्रश्ने तैरेव प्रथमवर्गाक्षरैरनभिहतैर्दक्षिणपार्श्वे पुरुषस्य लाञ्छनं ज्ञेयम् । अनभिहतैः स(श)स्त्रप्रहार इति । द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षराणामन्यतमघहुले [प० २२१, पा० २] प्रश्ने तैरेव द्वितीय-चतुर्थवर्गाक्षरैरनभिहते वामपार्श्वे लाञ्छनं प्रत्येतव्यम् । अभिहतैस्तैरेव शस्त्रैः प्रहारादिकम् ॥ ३५३ ॥

पठमसरे सिरभागं, णिडालय होइ तह कवग्गंमि ।

चिबुयं [च] चवग्गंमि, गिवप्पएसो टवग्गंमि ॥ ३५४ ॥

प्रथमस्वरग्रहणेन अवर्गो गृह्यते । तेन सिरो ज्ञेयः । कवर्गे निडालं । चवर्गे [प० २२२, पा० १] चिबुकं । टवर्गे ग्रीवाप्रदेशा(शः) ॥ ३५४ ॥

हिययं च तवग्गंमि, कडिय पवग्गंमि होइ नायबा ।

ऊरू [य] यवग्गंमि, जाणु पव(ए)सो सवग्गंमि ॥ ३५५ ॥

तवर्गाक्षरघहुले प्रश्ने हृदयं ज्ञेयम् । पवर्गघहुले प्रश्ने कटी ज्ञेया । ज(य)वर्गघहुले ऊरू ज्ञेयौ । जाणु(तु)पादौ सवर्गघहुले ॥ एवं अष्टविभागागकल्पना । [प० २२२, पा० २] पंच(एवं?)-प्रदेशभागकल्पनार्थः(एयंमाह?) ॥ ३५५ ॥

सीसो य अवग्गंमि, णिडालदेसो तहा कवग्गंमि ।

अच्छी य चवग्गंमि अ, णासा हु तहा टवग्गंमि ॥ ३५६ ॥

यद्यभिहितं अवर्गघहुले प्रश्ने शिरो ज्ञेयः, तस्येदानीमवयवा[न] तैरेव वर्गाक्षरैराह-अवर्गाक्षरघहुले प्रश्ने मूर्धजाः प्रत्येतव्याः । [प० २२३, पा० १] कवर्गाक्षरघहुले प्रश्ने ललाटं ज्ञेयम् । चवर्गघहुले प्रश्ने लोचने । टवर्गे नासिका ॥ ३५६ ॥

वक्कं होइ तवग्गे, अहरोट्टा तह पवग्गए भणिया ।

चिबुयं च [य]वग्गंमि, होइ य गीवा शवग्गंमि ॥ ३५७ ॥

तकारा(वर्गा)धिके वक्त्रम् । पवर्गाधिके ओष्ठौ । यवर्गे चित्तकः । शवर्गे ग्रीवा इति ॥ ३५७ ॥

एतेषु पशुषु २२१ च २२२सु, एतेभि अमिहएहि वग्गोहि ।

मसयं तिलयं सस्य-स्तय च कमसो वियाणाहि ॥ ३५८ ॥

विर(सिठ)प्रपुतनो वे प्रवेष्ठा वेत्तारा(रे)वृष्यः वेत्ति(व)मिहतेः अमिहोः प्रवे(ने) च प्रवेष्टो निवपप्रवो वृष्यः । अमिहवेत्तपव(इ)वपुष्पः । वपा(सिष्ठा)मिवावत्त(मि)मिवा । इव वेत्तगोष्टेरादिगितैः मस(इ)कं तिष्ठक च वृष्यम् । अमिहमिहोऽमिह(वेत्त)व वेत्तु स(इ)क-प्रहाय तत्र प्रवेष्टे वृष्यः ॥ ३५८ ॥

भणिएहि वयणवेसे, वग्गोहि य अमिहएहि जाणित्जा ।

मसय-तिलयाइ सव, विण्हं गुरुप(अस्य)एसेसु ॥ ३५९ ॥

वग्गे वामि[२२४ च १] विह्वानि अमिह(मि)वामि वेत्तमिहवेत्तरेवामि मस्यमिह-
* कारिणि गुरुप्रवेष्टे ज्ञेयानीति ॥ ३५९ ॥

॥ अस्त्रविभागप्रकरणमंगलय ॥

सप्तम-गवमो य रवी, चंदो वि य होइ पदम-साइपुणं ।

भोमो बीय-चउत्थे, पंचम-छट्टो य ससिसुओ भणिओ ॥ ३६ ॥

सप्तमकर पकारः, पचय च(भो)अय । एतौ चर्षस । चन्द्रः प्रथम-दृतीयेः 'अइ' । यौवो
* द्वितीये चर्षसैः 'आइ' । पुपः 'चउ' ॥ ३६ ॥

एकारस सूरसुओ, जीवो वसमे य अहुमे सुओ ।

वारसमो वि य राहु, एते सरसामिया भणिया ॥ ३६१ ॥

अं इतिः । ओ गुडः । छुड दे । अः [२२४ च १] एहुः । अउत्तं छा(ला)मित्तं
प्रहास्वार्थं वत्राप्रमिहवृष्यवत्पचपात्तवचोवृष्य-स्तय-अवा वचोत्तावतिना ज्ञेयाः ॥ ३६१ ॥

॥ अरक्षेजमवतम् ॥

रवि-भोम-सुओ-पुह-गुरु-सणि-च(वे)त्रो राहु अहुमो एते ।

अ क च ट त प य छ वग्गाण होंति स्वेत्ताहिवा भियय ॥ ३६२ ॥

अ क च ट त प य छ वग्गाणो महाः ज्ञेयापिच वृष्यः । उत्तमिहवृष्यवत्पचो अउ-
* मिवा(मग)मिहासुहृदिर्वेना इति ॥ ३६२ ॥

पण्हमकरसप्तसु(गु)ण, तिहिसहियं च(भो)भरत्तपरिसुद्धं ।

भच(सिचै)हि मागसेसे, सुजा(आ)इ[२२४ च १]माहा मुण्येयवा ॥ ३६३ ॥

सुद्धं छपुण वा (चो)उरो, तिण्णि य वो तह य रुयमिह सु ।

सरावीण एते, उमा(असा) संसा तहा कमसो ॥ ३६४ ॥

विचउत्तवतम् ॥ ३६३-३६४ ॥

छाया रासी होय, पण्हमकरम च होइ तीसगुणं ।

पक्खो वा तिण्णि सया, सहासतिहि(ि) तं सबं ॥ ३६५ ॥

५

तीसगुणं काजुणं, सीया(तीसा)ए हायए संया कालं ।

जं सेसं सा उ तिही, वोच्छं णक्खत्त-करणं से ॥ ३६६ ॥

लद्धाइ(ओ) जा तिहीओ, हीणा रूवेण कण्हपक्खस्स ।

सु(सु?)कंमि(पि?) दोहिं च भवे, मासस्स नामरिक्खगणं ॥ ३६७ ॥

सर्वदा प्रश्नकालिनी छाया राख(श)यो द्वादश । होरेति पचदशानां सङ्गा । प्रभाक्षरञ्च ।
[प० २२५, पा० २] [सर्व?]मेतदेकीकृत्य वृत्तस्या(त्रिंशता)गुणा शून्यक्षेपः ३६० वर्तमानातिथि-
युक्तं च कृत्वा । शेष गतार्थम् । अनादर्थ(श्री?)मेतत्तिथी(थि)नक्षत्रकाढम् ॥ ३६५ - ३६७ ॥

गंधवाह(इ) अवगो, दिट्ठे विज्जाहरा क्वगगंमि ।

पमाहाहा(?) [च]वगगंमि, णागय(?) य(ट)वगगमिति ॥ ३६८ ॥

[इयं गाय अस्पष्टार्था । न चास्या व्याख्यालेशो लभ्यते । - सपादकः ।]

जक्खा य [त्]वगगंमि, देवा भणिया तथा पवगगंमि ।

णागा य चवगगंमि, भूया जाणे सवगगंमि ॥ ३६९ ॥

तवर्गाधिके प्रश्ने यक्षा । पवर्गाधिके देवा । यवर्गाधिके नागा । स(श)वर्गाधिके
भूताः ॥ ३६९ ॥

पेया य पवगगंमि, जाण संकारे य तह पिसाया य ।

कोहंडा य हकारे, एवं जाणिज्जा[प० २२६, पा० १]णुक(क)मसो ॥ ३७० ॥

ख(प)काराधिके प्रश्ने प्रेताः । सकाराधिके पिशाचाः । हकाराधिके कुम्माढाः ॥ ३७० ॥

अणुणासिएसु असुरा, णायवा यं(अं)मि दीसए जंमो ।

सविसगगंमि अकारे, जक्खा सुणया य संजोए ॥ ३७१ ॥

अनुनासिकबहुले असुरा । अ(अ)कारः सानुस्वारः, तदधिके प्रश्ने यमो ज्ञेयः । अकारः ॥
सविसर्गः, तदधिके प्रश्ने यक्षा ज्ञेयाः । सयोगाक्षराधिके प्रश्ने स्वा(श्वा)नरूपिणो यक्षा
ज्ञेयाः ॥ ३७१ ॥

एएहि अक्खरोहिं, जाणसु अभिघाइएसु मरणं तु ।

जो(जा) जस्स देवया अक्ख[र]स्स तेणेव सा भणिया ॥ ३७२ ॥

यस्य यस्य देवताविशेषस्य येऽक्षराः पूर्वाभिहितान्तरहि(रभिह)वैस्तस्मात् तस्मात् देवता-
विशेषात् सकासा(शा)न्मा[प० २२६, पा० २]रणमपि ज्ञेयम् ॥ ३७२ ॥

पढमय-वीय(वि-तिय)चउत्यो, पंचमवगगो य तह ध णायवो ।

वाइय-पित्थिय-सिंभिय-सन्निवाइय अक्खरा कमसो ॥ ३७३ ॥

प्रथमवर्गाधिके प्रश्ने वातिका व्याधिरादेस्या(श्या) । द्वितीयवर्गे पैत्थिका । तृतीयवर्गे
श्रेष्ठा । चतुर्थवर्गाक्षराधिके प्रश्ने सान्निपातः । पञ्चमवर्गाक्षराधिके प्रश्ने क्षयो व्याधिरादेश्यः । ॥
प्रपुरन्यस्य वा य व्याधिक्खत्तच्छतीति ॥ ३७३ ॥

पणयालसयं अद्भुत्तरं च द्रोढावन्गाहिषुव(पी)रासी ।

अयसा(से)साणं छण्ह, षण्णेचरिया ह्यइ विट्ठी(डी) ॥ ३०४ ॥

पूर्वाभित्वा प्रायश्चयेन बुपका(१)विग्यम्य प्रताम्वरसद्वितं कृत्वा गुणयेत् ॥ ३०४ ॥

पथ य सत्त य णम तेरसे य अद्वात्समे य सोलसय ।

यत्तीसं तिचीसं, जाणसु गुणकार रासीओ ॥ ३०५ ॥

पूर्वाभितः प्रमा सद्दिया बुपका(१) बवात्तियम्यु[त]विग्यमं गुण्य सोदमिडां वपत्तं
विश्रोवयेत् ॥ ३०५ ॥

पथगतिगच्छसत्तुमा य ते होंति सोहणा कमसो ।

धम धूमे(म) सीह साणा, धसहमि पुळितिया प्ते ॥ ३०६ ॥

॥ गियब(णवय)म्मरमि जाणे, सोहणय बोदसे तु बाणि(१) ।

पण्णरत्तगए मरिया, सोलसत्तके थियाणाहि ॥ ३०७ ॥

एत्तो [सो] सखेवो, मणिओ जिणमासिओ समासेण ।

आम य णिट्ठइ णाम, लामालामेसु सवेसु ॥ ३०८ ॥

एत सः कृतेन प्रकारेण चात्तिकाय पुट्ठयाव बुद्धिबर्क कृत्वा, ये(वि)पयम्यामि(१)
॥ चात्तिका(१)यावत्तयाव(भाव) अत्तुत्तुयाव चात्तारा(१)आसत्तपजाव ईपम् । इत्तुत्तुयाव
कालवते चात्तिकाय देवमिति । जिनमहानपरिजानावर्कं कृतं वो पत्तमात्तरेत्तये। कालात्तमात्त
स सर्वं वत्तम् एते [इ]ति ॥ ३०६-३०८ ॥

॥ प्रसव्याकरण समाप्तम् ॥

॥ संवत् १९३६ वर्षे वैश्व शु १ ॥ इति संपूर्वम् ॥



ज्ञानदीपकारव्यं चूडामणिसारशास्त्रम् ।



नमिऊण जिणं सुरअणचूडामणिकिरणसोहिपयजुयलं ।

इय चूडामणिसारं कहिय मए जा(ना)णदीवक्खं ॥ १ ॥

जिनमहंतं सुरगणचूडामणिकिरणशोभितपादयुगलं नत्वा इदं चूडामणिसारं ज्ञानप्रदी- ४
पार्व्यं मया कथ्यत इति ॥ १ ॥

पढम-तईय-सत्तम-रंधसरा पढम-तईयवग्गवण्णाइं ।

आलिंगियाइं सुहया उत्तर-संकडअणामाइं ॥ २ ॥

अइएओ एते प्रथम-चृतीय-सप्तम-नवमाश्चत्वारः, तथा कचटतपयशा गजड
एवलसा एते प्रथम-चृतीय[वर्ग]चतुर्दशवर्णाश्च आलिंगिताः, सुभगाः, उत्तराः, सकटनामकाश्च ॥
भवन्तीति ॥ २ ॥

कुच-जुग-वसु-दिस-सरआ वीय-चउत्थाइं वग्गवण्णाइं ।

अहिधूमिआइं मज्झा ते उण अहराइं वियडाइं ॥ ३ ॥

आईऐऔ एते द्वितीय-चतुर्थाष्टम-दशमाश्चत्वारः स्वराः, तथा खछठथफरपाः षड्
ठधभघहाः एते द्वितीय-चतुर्थवर्गाणां चतुर्दशवर्णाः अभिधूमिताः, मध्यास्तथा उत्तराधरा ॥
विकटाश्च भवन्तीति ॥ ३ ॥

सर-रिउ-रुद्ध-दिवाअर-सराइं वग्गाण पंचमा वण्णा ।

दड्ढाइं वियड-संकड-अहराहर-असुहणामाइं ॥ ४ ॥

उऊअंअः एते पंचम-पष्ठिका एकादशम-द्वादशमाश्चत्वारः स्वराः, तथा उव्वणनमा
इति वर्गाणां पंचमा वर्णाः दग्धाः विकटसकटा अधरा अशुभनामकाश्च भवन्ति ॥ ४ ॥ २१

सघाण होइ सिद्धी पण्हे आलिंगिएहि सब्बेहिं ।

अहिधूमिएहिं मज्झा णासइ दड्ढेहिं सयलेहिं ॥ ५ ॥

प्रभे आलिंगितैः सर्वैः सर्वेषामेष सिद्धिर्भवति, [अभिधूमितैर्मध्या सिद्धिः] दग्धैः सर्वैः
सिद्धिर्नश्यति ॥ ५ ॥

उत्तरसरसंजुत्ता उत्तरआ उत्तरुत्तरा हुंति ।

अहरेहिं उत्तरतमा अहरा अहरेहिं णायत्ता ॥ ६ ॥

उत्तरसंज्ञकैः स्वरैः सयुक्ता उत्तरसंज्ञका एव वर्णा उत्तरतमा भवन्ति । त एव अधरा-
धरसंज्ञकैः स्वरैः सयुक्ता उत्तरसंज्ञका अधरसंज्ञकाश्च भवन्तीति ॥ ६ ॥ २२

अहरसरेहिं जुचा ते वृद्धा हुति अहरअहरतमा ।

कञ्जाह साहंति सुअ(ह)रं अघमा अघमाहं किं यदुणा ॥ ७ ॥

अपरसंज्ञकैः कृतेः संयुज्य दग्धा वर्णा अघपरतरसंज्ञका भवन्ति । ते च सुविराज-
केन अघमापमानि कार्यानि साधयन्ति विवदुनेति ॥ ७ ॥

वृद्धसरेहिं जुचा वृद्धतमा हुति दग्धया वण्णा ।

ते नास्तयति कञ्ज धलाधल मीसयेसु सयलेसु ॥ ८ ॥

दग्धसंज्ञकैः कृतेः संयुज्य दग्धसंज्ञका वर्णा दग्धतमसंज्ञका भवन्ति तेषां वृद्धसामि-
पञ्च भवति ॥ ८ ॥

आलिगिपृहिं पुरिसो महिला अहिभूमिपृहिं सवेहिं ।

वृद्धेहिं होइ संढो जाणिज्जह पण्हपडिपृहिं ॥ ९ ॥

आलिगितेर्वर्णैः प्रभे पडितैः पुरुषो भवति । अमिभूमितैः स्त्री । दग्धैर्नपुंसकमिति ज्ञानीवेति ॥ ९ ॥

जह् वग्गाण य वण्णा पढम-वीय-तीय-चठत्य-यंचमया ।

तह विण्ण-राय-धयसा सुद्धो विय संकरा य सयलाह ॥ १० ॥

वदि वर्णाणां वर्णैः प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पंचमया, तथा विण्ण-राय-धय-सय-सा, तदा विण्ण-राय-धय-सय-सा,

अयि च संकरजातयः सर्व एव भवन्तीति ॥ १० ॥

एवेहिं वण्णेहिं कमेण धालो कुमारओं तरुणो ।

मञ्जिमत्रमो वि थविरो जाणिज्जह पण्हपडिपृहिं ॥ ११ ॥

तथा पदेरेव वर्णैः प्रभे पडितैः कमेण वाक्यः कुमारवाक्यो मण्यमवया वृद्धय भवतीति
ज्ञानीवेति ॥ ११ ॥

आलिगिपृहिं विट्ठी मञ्जा अहिभूमिपृहिं सा होइ ।

वृद्धेहिं णत्थि विट्ठी जिणधयणं सच्चियं जाण ॥ १२ ॥

आलिगितेर्वर्णैः अमिभूमितेर्मन्मया वृद्धिः, दग्धे वासि वृद्धितेति विवदवर्णं सत्यमेव
ज्ञानीवेति ॥ १२ ॥

अहटप्पज्जह् सत्सं पण्ह् आलिगिपृहिं वण्णेहिं ।

अहिभूमिपृहिं किंषण णासइ वृद्धेहिं णो विच ॥ १३ ॥

अतिप्रयेनोत्पत्ते सत्सं प्रथम आलिगितेर्वर्णैः अमिभूमितैः किंचिदुत्पत्ते दग्धैर्नभवति
अत्र नो विचमिति ॥ १३ ॥

संपदिकाल पण्ह् वण्णो आलिगिओं पयासेह् ।

अहिभूमिओ वि भूअं वृद्धो उण भाविय णूर्ण ॥ १४ ॥

प्रभे आलिगितो वर्णः संपदिकाळ प्रकाशयति । अमिभूमितोऽपि भूअम् । दग्धाः पुनर्यै-
विकाहं वृत्तमिति ॥ १४ ॥

तह पढम वीय तइआ वण्णा वुच्चंति तिण्णिण कालाईं ।

मा इत्थ करह भंती जहसंखं सयलवग्गाणं ॥ १५ ॥

यथा समस्तवर्गाणां प्रथम-द्वितीय-तृतीयवर्णाः यथासख्यं त्रीन् कालान् व्रुवन्ति । अत्र मा भ्रांतिं प्रकुरुतेति ॥ १५ ॥

आलिंणिएहिं मुक्कइ वाहिं अहिधूमिएहिं ण हु रोईं ।

अहवा चिरेण कट्टं दड्ढो मरणं पयासेइ ॥ १६ ॥

आलिंणितैर्वाधिं रोगी मुचति, अभिधूमितैर्न मुचति, अथवा चिरेण कष्टात् मुंचति, दग्धश्च मरणमेव प्रकाशयति ॥ १६ ॥

विसमा दाहिणपासे वामे य वणं समा य पयडंति ।

वण्णा पण्हे पडिया पंचमया वेवि पासंमि ॥ १७ ॥

पत्रे पतिता विपमाः प्रथम-तृतीयवर्णा दक्षिणपार्श्वे तथा समाः द्वि-चतुर्था वर्णाः वाम-पार्श्वे पंचमका वर्णाः उत्तरपार्श्वे व्रण प्रकाशयन्ति ॥ १७ ॥

अट्ट सिरो-मणि-वयण-हियय-कडि-उरु-जाणु-चरणजुयलेहिं ।

पण्हविलग्गा वग्गा वणाईं दरिसंति जहसंखं ॥ १८ ॥

अष्टौ वर्गाः प्रभ्रविलग्वाः यथासख्यं शिरोललाटवदने[पु] तथा हृदय-कटि-ऊरु-जानु-चरण-युगलेषु व्रणा निदर्शयन्ति ॥ १८ ॥

अणिलय-पित्तय-सेफय-संसग्गय-आहिघाययं रोगं ।

पयडंति पंचवग्गा जहसंखं पढम उद्विट्ठा ॥ १९ ॥

प्रथमोद्विष्टाः पंचवर्गाः यथासख्यं अनिलजं पित्तजं श्लेष्मजं समर्गजं अभिघातजं रोगं प्रकटयन्ति ॥ १९ ॥

अइयंद-मज्झ-दारुणपीडाईं दिंति पण्हपडिआईं ।

आलिंणियाहिधूमियदड्ढा वण्णा जहासंखं ॥ २० ॥

आलिंणित्वाभिधूमितदग्धा वर्णाः प्रभ्रपतिता यथासख्यं अत्यन्तमन्दमध्यदारुणा पीडां प्रकटयन्तीति ॥ २० ॥

आलिंणिएहिं संधी ण हु संधी विग्गहे(हो) ण अहरोहिं ।

अहराहरोहिं कहिओ समरो सुहडाण णासयरो ॥ २१ ॥

आलिंणितैः सधिर्भवति, अवर्तेन च सधिर्न च विग्रहः, अधराधरैः सप्रामः सुभटानां नाशकर इति ॥ २१ ॥

विजयं उत्तरवण्णो ण जयं ण पराजयं वि अहरोहिं ।

अहराहरो पयासइ पराजयं णत्थि संदेहो ॥ २२ ॥

उत्तरो वर्णो विजयं प्रकाशयति, अधरो वर्णो न जयं न पराजयं, अधराधरश्च पराजय-मेवैत्यत्र नास्ति संदेहः ॥ २२ ॥

अह् पठमन्त्ररमहर अत्रसाणे उत्तरमन्त्रं पण्हे ।

ता उत्तरो मुबलिओ विवरीओ ताण विवरीयं ॥ २३ ॥

अत्रपठमन्त्ररमहे वदा प्रथममन्त्ररमन्त्रं अत्रसन्ने च उत्तरमन्त्रं मन्त्रे तथा उत्तरो मन्त्रे मन्त्रे ॥ २३ ॥

पठमसरेण य पुष्पा पण्हे मन्त्राविषयिण्या घण्णा ।

अणमिहित्तिणाममा दे पअडति य जीयचित्ताइं ॥ २४ ॥

प्रथमसरेण पुष्पा अन्वमात्राविषयिता वर्णात्त दे मन्त्रे अन्वमिहित्तिणाममा अर्पति दे च अविषयिता मन्त्ररमन्त्रे ॥ २४ ॥

ससि-तद्दम-पंच-सप्तम-नवमसरा रुद्रसंस्तरसहिया ।

क-व-टा पंचमहीणा सहिया य-स-हेहिं जीवकला ॥ २५ ॥

प्रथम-द्वितीय-पंच-सप्तम-नवमः सारा एकादशसंस्तरसहिया, तथा अष्टम-नवम-दशम-पंचमहीणा, अकार-सकार-हकारसहिया एते पञ्चविंशतिवर्णाः जीवकला मन्त्रेति ॥ २५ ॥

धीओ छट्टो सरओ सविसग्गो तह व-सकस्सरोपेओ ।

तह उण पंचमहीणा त-यवमा घाठणामा उ ॥ २६ ॥

द्वितीयाः षडः अक्षराः, सविसर्गाः, तथा अकार-सकारोपेताः तथा पुनश्चर्गाः पञ्चमः पंचमहीण एते अक्षरसप्तम्याः अक्षरानामका मन्त्रेति ॥ २६ ॥

ई दे ओ सरजुत्ता र-ल-या ऋ-अ-ण-न-माइं घण्णाइ ।

एआरह मूलकला पयासिया जिणवरिदेण ॥ २७ ॥

अक्षराद्वयसंस्तरपुष्पा र-ल-या ऋ-अ-ण-न-माइंकेकादश वर्णा मूलकलासंस्तरमन्त्रेति । एतेषुषु मन्त्रे अन्वमन्त्रे आनुकामा, मूलाक्षरेर्जावकायाः आन्वमन्त्रेर्जावकायैर्द्वयम इति मात्र अर्था विजात्या ॥ २७ ॥

मुट्टीजीवकसरए मूलं जीवं वि मूलमन्सरए ।

घाठं उण आमिज्जह घाठकस्सरएण किं चोअं ॥ २८ ॥

मुट्टी जीवकसरेर्द्वयं आन्वमन्त्रे अर्था च मूलाक्षरेः अक्षरे पञ्चमसरेरेवेति किमिन्वमन्त्रे-मिति ॥ २८ ॥

बहुपुण्ड्रमवमावण्णा अह बहुविद् विसमासंजुत्ता ।

बहुवमा जह पण्हे ता सुअं मुट्टिसिताइ ॥ २९ ॥

मन्त्रे अर्था बहुवः प्रथमसरेर्जावका मन्त्रेति अथवा बहुविद्विसर्गासंजुत्ता मन्त्रेति अथवा मन्त्रा एव बहुवो मन्त्रेति तथा मुट्टिसितायां मूलं मन्त्रेति ॥ २९ ॥

विसमसरा ऊआरो वग्गाणं पढम-तइयवण्णाइं ।

दुप्पय-णराण एसा एआहाराण णहु होइ ॥ ३० ॥

विषमस्वराः प्रथम-चृतीय-पचम-सप्तम-नवमैकादशमाः, तथा ऊकारश्च, तथा वर्गाणां प्रथम-चृतीयवर्णाश्च एते द्विपदेषु नराणा वर्णाः, एतदाहाराणा राक्षसानां न भवन्तीति ॥ ३० ॥

वीओ दसमो सरओ वग्गाणं वीयवण्णया सयला ।

दिसंति जइअ पण्हे ता मुणह चउप्पयं जीवं ॥ ३१ ॥

यदि प्रभे चतुर्थाष्टद्वाव्यः स्वरो भवति, तथा वृश्चिकादीना जातिं दृष्टिं च न्याघादिकं तं तवर्गवर्णो वदति, तथा वर्गाणा चतुर्था वर्णाश्च तदा चतुष्पादा जीवा भवन्ति ॥ ३१ ॥

जइ वग्गाण य वण्णा पंचमया हुंति पण्हपडियाइं ।

ता मुणह णरअवासिय भूअपिसाचाइं सबाइं ॥ ३२ ॥

यदि वर्गाणां पंचमा वर्णाः प्रभे पतन्ति भवन्ति, तदा नारकवासिनो भूतपिशाचाश्च सकलान् जानीतेति ॥ ३२ ॥

मत्ता त-पवग्गेहिं य-शवग्गेहिं हुंति सउणा य ।

सिद्धा सरेहिं भणिया देवा उण क-च-टवग्गेहिं ॥ ३३ ॥

तवर्ग-पवर्गाभ्या मर्त्याः, यवर्ग-शवर्गाभ्या शकुनाः, स्वैरैः सर्वैरेव सिद्धाः, देवाः पुनः ॥ कवर्ग-चवर्ग-टवर्गैर्भवन्तीति ॥ ३३ ॥

चवइ कवग्गो पण्हे लद्धो थलचारियं विहंगमयं ।

तं चिअ अइप्पहाणं^१ तवग्गओ णत्थि संदेहो ॥ ३४ ॥

प्रभ्रलब्धः कवर्गः स्थलचारिण विहगमं वक्ति । तमेव स्थलचारिणं विहंगमं अतिप्रधानं मयूरादिकं तवर्गो वक्तीति संदेहो नास्ति ॥ ३४ ॥

जइ अ चवग्गो लद्धो तह पक्खी^२ होइ जलयरो पूणं ।

तं पि टवग्गे सिद्धं चवइ पवग्गो गुहसयंघं^३ ॥ ३५ ॥

यदि चवर्गो लब्धः तदा जलचराः पक्षिणो भवन्ति । नूत तमपि जलचर पक्षिणं श्रेष्ठं हसादिकं टवर्गो वक्तीति । अधमं (अन्ध ?) च गुहाशयं उलकादिकं पवर्गो वक्तीति ॥ ३५ ॥

पण्हे कवग्गवण्णा कालोरय-सिग्गिणो पयासंति ।

राजीवसप्पजाइं चवग्गवण्णा य दंतत्यं ॥ ३६ ॥

प्रभे कवर्गवर्णाः कालोरगाश्च ऽग्निणश्च वृषभादीनि प्रकाशयन्ति । राजीवसर्पजातिं शंखचूडादिकं दत्तान्नं च हस्तिप्रभृतिकं चवर्गवर्णाः प्रकाशयन्तीति ॥ ३६ ॥

गोष्णससप्पजाहं टक्कगवण्णा फुळं पयासति ।

लहुअविसाण जाहं विट्ठीणं होहं तवग्गवण्णेहिं ॥ ३७ ॥

गोक्षो सर्पजाहिं टक्कगवण्णाः स्फुटं प्रयासवन्ति । लघुअविसाणं जाहं तवग्गवण्णेहिं ॥ ३७ ॥

विसमच्छ-वाहि(ठि ?) दुंदुहि-कीडविसेसाह किं सुअ ।

अह किं लखो पण्हे पवग्गओ पण्हेअउरेण ॥ ३८ ॥

वसि प्रमचट्टरेण प्रभे पवग्गो विअम्मसत्ता विपमत्तान् गुणिकप्रसूतीन् बंधान् मकर
तक्कप्रसूतीन् दुंदुमिप्रसूतिधीटविशेक्कान् वडि अत्र किमाअवमिदि ॥ ३८ ॥

ससि-अलण-धाण-मुणि-गह-रुह-सरा धम्माण तु-तीयवण्णा य ।

सुअंति भम्मघाठ अभम चिय सेससरवण्णा ॥ ३९ ॥

प्रथम-द्वितीय-पंचम-सप्तम-नवमैकादशमाः सराः, तथा कवर्गविसत्तकर्णयो द्वितीयवर्णोश्च
वाग्यपयानुं वदन्तीति ॥ ३९ ॥

रवि-रुह-यक्खसरओ पंचमहीणा कवग्गवण्णा य ।

कण्यं चवन्ति सारं सत्तमवग्गो मुणितुसरओ य ॥ ४० ॥

श्याक्कमैकादशम-द्वितीयसरः पंचमहीणाः कवर्गवर्णोश्च कवक वदन्ति । रवर्तं च सप्तमो
वर्णो तथा सप्तमः प्रथमः कल्पेति ॥ ४० ॥

सबं च तहओ सरओ पंचमहीणो अउत्थओ वग्गो ।

ओहं दसमो सरओ अट्टमवग्गो मैकारो य ॥ ४१ ॥

सर्वं त्वीचखरः पंचमहीणाः अष्टमो वर्णोश्च ओहं दसमसखरः तथादसमो वर्णो यक्कअ
वदति अचत्तपरिआयेन पूर्वतो च वर्तते इति ॥ ४१ ॥

वंग तहओ वग्गो पंचमहीणो कवग्गपंचमओ ।

अट्टम-यक्खसरओ पण्हे लखो पयासेह ॥ ४२ ॥

वंगं अष्टु पंचमहीनस्तद्वीचो वर्णः, तथा कवर्गपंचमो वर्णोश्च, तथाऽऽहमाः पंचमः खरः
प्रभे कल्पः प्रकाशयतीति ॥ ४२ ॥

अट्टसरो पूकंतो पंचमवण्णो अ सईयवग्गस्त ।

अह पाविअह पण्हे ता णूर्ण सीसअं मुणहै ॥ ४३ ॥

पट्टसरः पट्टापी तथा त्वीचवर्गश्च पंचमो वर्णोश्च वसि प्रभे माणवे तथा गूळ सीसअं
कवपन्ति ॥ ४३ ॥

म-य-क-म-मा ऊ वण्णा पण्हे लखा कुणति पित्तलय ।

ण-त-धा द-धा ह-आरा कंसं ण हु अत्थि संवेहो ॥ ४४ ॥

नकार-पकार-फकार-[भकार]-भकारस्तथा ऊकारश्च एते प्रश्ने लब्धाः पित्तलकं कथयन्ति । गकार-तकार-थकार-दकार-धकार-इकारश्च एते कास्यं कथयन्ति । तथा अत्र न रल्लु संदेहोऽस्तीति ॥ ४४ ॥

कणयक्खरं पयासइ मरगयमाणिक्कपहुइरयणाइं ।

मुत्ताहीरयपहुइं तारक्खरयं णं संदेहो ॥ ४५ ॥

कनकाक्षर मरकतमाणिक्यप्रभृतिरत्नानि प्रकाशयति, ताराक्षरं च मुक्ताहीरकप्रभृतिकं प्रकाशयति ॥ ४५ ॥

कक्करतालयपहुदिं [तं]वक्खरयं [च] भणइ णो चित्तं ।

लोहक्खरेहिं जाणह रयणाइं इदनीलपहुदीणि ॥ ४६ ॥

ताम्राक्षरः तालकप्रभृतिं भणति नात्र चित्रम्, लोहाक्षरैश्च इदनीलप्रभृतीनि रत्नानि ॥ जानीतेति ॥ ४६ ॥

कंसक्खरं पयासइ रयणऽसेसाइं काचपहुदीणि ।

सेसं सीसयपहुदिं पित्तलसीसाइ अक्खरयं ॥ ४७ ॥

कसाक्षर काचप्रभृतीनि रत्नविशेषाणि प्रकाशयति । श्लेष पित्तलसीसकाचक्षर शीशकप्रभृतीनि रत्नविशेष प्रकाशयति ॥ ४७ ॥

उत्तरवण्णपहाणं पण्हे गढियं पयासए णिच्चं ।

घाउमगढिअं अहरं अक्खरयं भणइ सच्चमियं ॥ ४८ ॥

प्रश्ने उत्तरवर्णाः प्रथमक्षरं नित्य घटितं धातु प्रकाशयति । अधरमक्षर अघटितं धातुं भणतीति सत्यमिदम् ॥ ४८ ॥

आलिं गिएहिं जाणह कंकणकेऊरपहुदि आहरणं ।

अहरक्खरेहिं गढिअं कच्चोलयपहुति भायणयं ॥ ४९ ॥

घटिते धातोर्लक्ष्णे सति पुनरपि प्रश्ने आलिं गिताक्षरैः घटितं केयूरप्रभृतिकमाभरणं भवतीति । अधराक्षरैर्घटित कच्चोलकप्रभृति भाजन भवति ॥ ४९ ॥

उत्तरवण्णपहाणं पण्हे दरिसेइ अहिणवाहरणं ।

अहरक्खर अपहाणं उवमुत्तं णत्थि संदेहो ॥ ५० ॥

आभरणे प्राप्ते सति पुनरन्यप्रश्ने उत्तरवर्णप्रधान प्रथमभिनवाभरण दर्शयति । अधराक्षरैऽप्रधान च उपाभरण दर्शयतीति नास्ति संदेहः ॥ ५० ॥

सव्वे उत्तरवण्णा भवन्ति सुरलोअलोअणाहरणं ।

अहरक्खराइ णूणं माणवलोयस्स जंतूणं ॥ ५१ ॥

पुनरन्यप्रश्ने सर्व एवोत्तरवर्णाः सुरलोकानामाभरण भवन्ति । अधराक्षराणि मानवलोकस्य द्विपदचतुष्पदजतूनामाभरण भवन्ति ॥ ५१ ॥

दुष्पयवण्णा पण्हे दुष्पअजंतूण थवइ आहरण ।

सो धि णर-णारयाण विहगण विहगवण्णेहिं ॥ ५२ ॥

पुनरुत्पन्ने द्विपदवर्णा द्विपदवर्णानामरत्नं वृषन्तीति । विहगवर्णोऽपि विहगनामावरणं
वृषन्ति ॥ ५२ ॥

जइ य थठप्पयवण्णा पण्हे लब्धइ हुंति पठराइ ।

मा करहु इत्थ भती जाणिज्ज थठप्पयाहरण ॥ ५३ ॥

पुनरुत्पन्ने एषि चतुष्पदवर्णाः प्रभे छप्पाः प्रभुय भवन्ति तथा मा भवन्ति कुत चतु-
ष्पदामरत्नं जानीतेति ॥ ५३ ॥

विस-कुच-वेयट्टमया सरया धरिसंति उच्चआहरण ।

ससि तिय-गह-सत्तमया मज्झगे सेस अच्चाण ॥ ५४ ॥

रत्नम-द्वितीय चतुर्धावकाः स्वयः चतुर्वेदामरत्नं वृषन्ति । प्रथम-द्वितीय-वचन-
सत्तमकाम चतुर्वेदामरत्नं वृषन्ति ॥ ५४ ॥

आहरणाण य वण्णा संसिद्धा हुति जई य त-पठरा ।

ता तं रयणणिघट्ट भायण्यं ताण वण्णेहिं ॥ ५५ ॥

पद्यावरणानां वर्णाः संसिद्धाः संवत्सराः त्वर्गाप्रभुरा भवन्ति तथाऽऽमरत्नं जनिवत्
भवति भावगतवैश्व संवत्सैर्भोजनं रत्ननिवत्तं भवति ॥ ५५ ॥

जइ पठरठत्तरच्च ता रयण सुच्चजाइयं मुणहु ।

तं अहरक्खरयच्चं किचिमयं भीसिप्पु मित्त्सं ॥ ५६ ॥

एषि तदा प्रभुपेत्तपरसंबन्धि कृत्रिमजातिमिश्रितं च इव ज्ञानतेति ॥ ५६ ॥

उत्तम-मज्झिम-अघमा हुंति य णाणा तहा जहासंसं ।

आलिं गियाहिं यूमियवडुयपत्तेहिं पण्हेहिं ॥ ५७ ॥

तथा जालिं गितामिभूमितदवच्छेदे प्रभे प्रभे उत्तममज्झिमावमानि नावकानि हंशकानि
द्विर्वाकानिकानि वचासंज्ञं भवन्तीति ॥ ५७ ॥

पठमं तरुण वण्णा तह ससि-गहसंमिओ सरो चेव ।

क-च-टावुआण्ण (१) बुइय)वण्णा वसमओ बुज्जो सरो वेधि ॥ ५८ ॥

क-च-टाविवर्णानां सप्तधा प्रभवो वर्षेष्टथा प्रथम-वचनकल्पे पठे तदवर्णाः तरुण-
यावतीनां वाचकाः कर्ग-वर्ग-इवर्गानां च द्वितीयवर्णाः क-क-टावचा वचन-द्वितीये कर्णे
च पठे पंच वर्णा ज्ञानां ज्ञानादीनां वाचका इति ॥ ५८ ॥

सिठ-वाण-रुइसरओ पंचमवण्णा तिणाइ अपति ।

सेसडुइच्चा वण्णा बह्णी वग्गाज चत्तारिं ॥ ५९ ॥

सिठ-वाण-रुइसरओ पंचमवण्णा तिणाइ अपति ।

षष्ठ-पंचमैकादशश्वरः, तथा वर्गाणां कवर्गाणां सप्तानां पंचमाश्च वर्णांस्तृणानि दूर्वादीनि जल्पन्ति । शेषा द्वितीया वर्णाः चत्वारि तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणां चतुर्णां वल्लीनां वूलीप्रभृ-
तिकां जल्पन्ति ॥ ५९ ॥

अट्टम-चउअं तिसरा चउत्थवण्णेण ठाइआ तिण्णि ।

जंपंति ख-छ-ठ-फाओ जाइविसेसाइं गुम्माइं ॥ ६० ॥

कवर्गादिसप्तवर्गाणा चतुर्थवर्णेन स्थापिताश्चतुर्थाष्टमातिमास्त्रयः स्वराः ख-छ-ठ-फा
जातिविशेषान् गुल्मान् जल्पन्ति ॥ ६० ॥

ग-ज-डेहिं होंति य लया सालादि सत्तमसरेहिं गहिण्हिं ।

गहिण्हिं दबलसेहिं प(ध?)ण्णापहुदीनि जाणेह ॥ ६१ ॥

कवर्ग-चवर्ग-टवर्गाणा तृतीयवर्णेन भवन्ति तृतीय-सप्तमाभ्यां स्वराभ्यां शालादिकान् ॥
वृक्षान्, तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग-शवर्गाणा चतुर्णां तृतीये वर्णे गृहीते धान्यकादीन् जानीतेति ॥ ६१ ॥

जल-साहारण-जंगलदेसपभूयं चवंति भूरुहयं ।

आलिंणिय-अहिधूमिय-दड्डयवण्णा जहासंखं ॥ ६२ ॥

जलसाधारणं जागलदेशप्रभूत भूरुह यथा जलज कमलोत्पलादिक जागलजं करीरकर-
मर्दीदिकं तानेतान् यथासख्य आलिंणिताभिधूमिता वर्णां वृचन्तीति ॥ ६२ ॥

तरवो हुंति असोया संणिहिया उत्तरेहिं वण्णेहिं ।

अधरसरेहिं अधमा पण्हे पडिण्हिं दूरट्टा ॥ ६३ ॥

उत्तराक्षरैरशोकाद्यास्तरवः प्रत्यासन्ना भवन्ति । अधराक्षरैरधमा वृक्षाः सर्वत्र शाखोट-
कादयो दूरस्था भवन्ति ॥ ६३ ॥

संजुत्त-असंजुत्ता जहाकमं लद्ध[पण्ह]वण्णेहिं ।

फलियाफलिया तरुणो केवलिनाणेण भासंति ॥ ६४ ॥

संयुक्ता असंयुक्ता लब्धाः प्रभवर्णाः यथाक्रम फलिताफलितान् तरुन् केवलिकाज्ञानेन
भाषन्ति इति ॥ ६४ ॥

तह दिवस-मास-पक्खय पुणो वि मासे वि तह य वच्छरए ।

जहसंखं लाहसुहं एसु य सयलेसु वग्गेसु ॥ ६५ ॥

एषु सर्वेषु वर्णेषु कवर्गादिसप्तस्वपि वर्णेषु एकद्वित्रिचतुःपचमके वर्णे तस्मिन्नेव दिवसे
लाभसुखादिक चिन्तितं भवति । सर्वैर्द्वितीयवर्णैर्मासे उद्भवति, सर्वे तृतीयवर्णे पक्षे उद्भवति,
सर्वे चतुर्थवर्णे पुनर्मासे एव उद्भवति, सर्वे पचमवर्णे सवत्सरे उद्भवति ॥ ६५ ॥

उत्तरवण्णपहाणो उत्तरअयणं पयासए पण्हे ।

अहरक्खरेसु पैण्हे दक्खिणअयणं णं संदेहो ॥ ६६ ॥

चतुर्वर्णप्रधानप्रभः चतुरायण प्रकाशवति । अथराश्वरप्रधानम् दक्षिणावर्तं प्रकाशवति
अथ वायु सन्धेः ॥ ६६ ॥

पठमन्त्ररेण सिसिरो महु वि तहा वीयपुण वण्णेण ।

तीयन्त्ररेण गिम्हो चउधेण य पाठसो होइ ॥ ६७ ॥

कवर्गादिसप्तवर्णयोः प्रथमाक्षरेण प्रथमप्रलेन सिद्धिः, तथा द्वितीयवर्णेन अनुर्बन्धेन,
तृतीयाक्षरेण प्रीष्मः चतुर्थाक्षरेण प्राद्वद भवति ॥ ६७ ॥

सत्तमसरेहिं सरओ कहिओ अणुणासिर्इहिं हेमतो ।

अंअ [: !] इउ अन्त्ररयं पयासिय जिणयर्दिदेण ॥ ६८ ॥

सप्तमक्षरे सरत् कवितः, अनुवासिके हेर्मता । एवं सहासरे जिणवर्देण प्रथमवि-
मिति ॥ ६८ ॥

होइ च-टेहिं चित्तो वेसाहो होइ ग-ज इवण्णेहिं ।

जिहो वि व-व-ल-सेहिं इओ व-स-डेहिं आसावो ॥ ६९ ॥

चवर्ग-इवर्गयोः प्रथमाक्षराम्नां वैभो भवति । तथा कवर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः तृतीयाक्षरे
वैष्णवो भवति । तवर्ग-यवर्ग-इवर्ग-सवर्गयोः तृतीयाक्षरेभ्यो भवति । चतुर्व-इत्यक्षराम्नां
तथा कवर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः चतुर्थाक्षरेप्राप्तो भवति ॥ ६९ ॥

णहु होइ व-म-व-हेहिं सर रिउसर ऊ-अ-णेहिं मह्यओ ।

ए ऊ धिन्दु विसग्गा सेसयवण्णेहिं आसिणओ ॥ ७० ॥

तवर्ग-यवर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः चतुर्थाक्षरेर्ममः आहुणो भवति । पंच-व-ह-म्नां अष्ट-म्नां क-
वर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः पंचमाक्षरेर्मोद्रपदो भवति । अनुस्वार-विसर्गांश्चामाधिको भवतीति ॥ ७० ॥

तह त-य कचिकमासो कहिओ पठमेहिं दोहिं वण्णेहिं ।

य-शवण्णेहिं वि दोहिं मियसरणामो य मासो य ॥ ७१ ॥

तवर्ग-यवर्गयोः प्रथमाक्षराम्नां ह्याम्नां तथा पुनः कार्तिको मासः कवितः, चवर्ग-इवर्गयोः
प्रथमवर्णाम्नां ह्याम्नां मार्गशीर्षो मासः कवितः इति ॥ ७१ ॥

आ ई ख-ख-डेहिं सहो व फ-र पधण्णेहिं होइ तह माहो ।

फण्णुणामासो ससि मुणिसरएहिं तह कवग्गेण ॥ ७२ ॥

द्वितीय-चतुर्थांश्च अष्ट-म्नां तथा कवर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः द्वितीयाक्षरेण सह षोडशो मासो
भवति । तवर्ग-यवर्ग-चवर्ग-इवर्गयोः द्वितीयाक्षरेण सह मासो भवति । प्रथम-सप्तमक्षराम्नां
कवर्गांश्च प्रथमाक्षरेण अष्ट-म्नां मासो भवतीति ॥ ७२ ॥

वो तिभि पंच अट्टा पच य अट्टा य सह य वो तिभि ।

चारिछ सच छछा सच ष्टछा य चारिछा ॥ ७३ ॥

॥ इति त्रिनेत्रकवितं प्रथमबृहामणिसारकाण्डं समाप्तम् ॥

